॥ ॐ ॥

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादप्रणीतम्

स्वात्मनिरूपणम्

(अपने स्वरूप का निरूपण)

'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका' हिन्दी व्याख्या सहित

तथा

श्रीशंकराचार्याणामष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्

पूज्यपाद स्वामी अखंडानन्दजी
सरस्वती
सादर समर्पित

मनोहरलाल
25-11-77

टीकाकार

पण्डित मनोहरलाल शर्मा M. A. **'गुरुभक्तरत्न'**

प्रकाशक तथा प्राप्तिस्थान ।

श्री मनोहरलाल शर्मा

१६२, चित्तरंजन एवेन्यु

कलकत्ता-७

लेखक की अन्य टीकायें

१––श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'ब्रह्मानुचिन्तनम्' पर 'ओंकारी प्रदीपिका'––(अद्वैतवेदान्त का यह सूक्ष्म ग्रंथ संन्यासियों और प्रौढ़ मुमुक्षुओं के अभ्यास के लिये परम उपयोगी है ।)

२––श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'अपरोक्षानुभूतिः' पर 'चन्द्र-कान्त प्रदीपिका'––(अद्वैतवेदान्त का यह ग्रंथ स्त्री-पुरुष सब के लिये परम उपयोगी है ।)

✓ ३––श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'विवेकचूडामणिः' पर 'सप्त प्रकरणी-ओंकारी प्रदीपिका'––(अद्वैतवेदान्त का सर्वाङ्गीण पूर्ण यह ग्रंथ मुमुक्षुओं के लिये अनिवार्य है ।)

४––भगवान वेदव्यासप्रणीत 'श्रीरामगीता' पर 'ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका'–(इस ग्रंथ में भगवान राम ने लक्ष्मण के मोहनिवारण के लिये ब्रह्मज्ञान दिया है ।)

✓ ५––श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'आत्मबोधः' पर 'ओंकारी-प्रदीपिका'–(अद्वैतवेदान्त का यह सरल सुबोध ग्रंथ है ।)

✓ ६––श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'वाक्यवृत्तिः' पर 'संजीवनी प्रदीपिका'–(इस ग्रंथ में महावाक्य का अर्थ निरूपण किया गया है) ।

प्रथमावृत्ति––१००० विक्रम सम्वत् २०२४ (सन् १९६७)

मुद्रक—जेनरल प्रिण्टिङ्ग वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड,

८३, ओल्ड चीनाबाजार स्ट्रीट, कलकत्ता-१

सम्मतियां

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीमत् शंकराचार्य महाराज स्वामी निरंजनदेव तीर्थ गोवर्धनपीठाधीश्वर, जगन्नाथपुरी, उड़ीसा।

स्वस्ति। श्री मनोहरलाल जी द्वारा रचित 'स्वात्मनिरूपणम्' पर 'स्वयंसिद्धाप्रदीपिका' भाषाटीका जिज्ञासुओं के लिये उपकारक है। भगवान् इन्हें और अधिक प्रतिभासम्पन्न वनायें जिससे कि वे भगवान आद्य शंकराचार्य के अन्य ग्रंथों का भी विशद् अनुवाद प्रस्तुत कर सकें।

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्री शंकराचार्य श्रीस्वामी शान्तानन्द सरस्वती जी महाराज ज्योतिर्मठ--बदरिकाश्रम (हिमालय)
श्री शंकराचार्य निवास, अलोपीबाग, प्रयाग।

स्वस्ति। आपका भेजा हुआ पत्र प्राप्त हुआ, भगवत् पूज्यपाद श्रीमद् आद्य शंकराचार्य कृत 'स्वात्मनिरूपणम्' नामक ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद व्याख्या सहित कच्ची कापी का सिंहावलोकन किया, वहुत सुन्दर है। हमारी मंगल कामना है कि आस्तिक जनता इसका स्वाध्याय कर अपने आत्मनिरीक्षण का अवलोकन प्राप्त करेगी।

आशा है आपके परिश्रम का सदुपयोग भारतीय जनता में अवश्य होगा। ऐसी हमारी शुभकामना एवं आशीर्वाद हैं। १०-७-६७

स्वामी सच्चिदानन्दाश्रम, सद्‌गुरुसदन, मायाकुण्ड, ऋषिकेश, देहरादून ।

नारायण शुभाशीर्वाद। गुरुभक्त रत्न पं० मनोहरलाल जी शर्मा एम० ए० द्वारा विरचित श्री आद्य शंकराचार्य जी के पंचम रत्न स्वात्मनिरूपणम् की 'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका' हिन्दी टीका यथानाम तथा गुणवादी है। इसकी अद्‌भुत शैली से चित्त आकर्षित होकर आद्योपान्त अवलोकन करना पड़ा। व्याख्या में श्री सद्‌गुरुदेव जी के वेदान्त प्रवचन के समान और कहीं-कहीं उनसे भी अधिक आनन्दानुभव हुआ। इसमें अद्वैतभाव के गम्भीर भावों का निरूपण सप्रामाणिक अनुभवयुक्त पाण्डित्य पूर्ण ढंग से सरल सुबोध प्रचलित शब्दों में किया गया है। इस ग्रंथ से साधारण अधिकारी भी विशेष लाभ उठा सकते हैं। जनता में वेदान्त सिद्धान्त का प्रचार प्रसार होवे, ऐसा शुभाशीर्वाद पंडित जी को प्रदान किया जाता है।

ऋषिकेश के एक गुप्त विद्वान की सम्मति

भगवान् श्री शंकराचार्य के ग्रंथों में स्वात्मनिरूपणम् ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें वेदान्तसिद्धान्त का प्रतिपादन अत्यन्त उत्तम शैली से किया गया है। वेदान्त के अवान्तरवाक्य तथा महावाक्य का हृदयग्राही वर्णन है। सम्पूर्ण भेदभ्रमों के निवारण पूर्वक एकमेवाद्वितीय ब्रह्म का ही प्रतिपादन कर जीव की स्थिति अपने ब्रह्म स्वरूप में की गयी है। यही मानव का परम पुरुषार्थ है और इसी से शोक, मोह, भय, तथा वन्धन की निवृत्ति होती है। इस पर पं० मनोहरलाल जी शर्मा ने 'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका' की हिन्दी व्याख्या लिख कर मुमुक्षुओं का अत्यन्त उपकार किया है। व्याख्याकार स्वयं मर्मज्ञ, अनुभवी एवं विद्वान् पुरुष हैं। उनकी व्याख्या की विशेषता है सरलता एवं प्रामाणिकता। किंचित् अध्ययनशील भी इस व्याख्या से लाभ उठा सकेंगे।

श्रीमत्परमहंस स्वामीपूर्णानन्द सरस्वती, पंचानन महादेव मन्दिर, हावड़ा स्टेशन, गंगातट । २४-७-६७

भगवान् भाष्यकार के पाँचवें श्रेष्ठ रत्न 'स्वात्मनिरूपणम्' ग्रंथ पर पंडित मनोहरलाल शर्मा द्वारा रचित 'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका', टीका देखने का मुझे पुण्यमय अवसर मिला। स्वात्मप्रकाश से अन्तःकरण में भगवान भाष्यकार ही टीकाकार के रूप में मुझे झलके, सत्य। पण्डित जी ने भगवान भाष्यकार के संकल्प में गहरा गोता लगा कर अपनी व्याख्या में उनके हृदय को ही खोल कर रख दिया है। टीका सर्वाङ्गीण सत्यं शिवं सुन्दरम् है। इस गुप्त ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय ब्राह्मण ने अपने टीकारूपी ज्ञानयज्ञ से ज्ञान-जगत् की अनुपम सेवा की है, और आप जिज्ञासु मुमुक्षुओं की कृतज्ञता के यथार्थ भाजन हैं।

पं० ताराचन्द्र शास्त्री, ज्यौतिषाचार्य, १८, गोबिन्द बनर्जी लेन, सलकिया (हवड़ा)

आपने अपनी शेमुषी (प्रज्ञा) का ज्ञानयोग में प्रयोग करके वास्तव में 'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था' को सार्थक कर दिया है, आपके द्वारा व्याख्यात होकर शांकर ग्रंथ अपने भावों को सुस्पष्ट व्यक्त करते हुए साण चढ़ाये हीरे की तरह चमक उठे हैं, इस पुनीत कार्य द्वारा आप अनन्त जिज्ञासुओं का परम उपकार करके महान सुकृत के भागी बने हैं। आशा है भविष्य में भी इसी प्रकार ग्रंथरत्नों की सृष्टि करते रहेंगे।

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीतम्

'स्वात्मनिरूपणम्'

पांचवां रत्न

(अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त का ग्रंथ)

प्राक्कथन

आदिगुरु भगवान शंकराचार्य के अनेकों वेदान्त ग्रन्थों में 'स्वात्मनिरूपणम्' का विशेष स्थान है। यह पांचवां रत्न है। इसमें १५४ श्लोक आर्या छन्द में दिये हैं। बृहद्दृष्टि से हम कह सकते हैं कि प्रथम १०४ श्लोकों में तो 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य की व्याख्या है, और उत्तरग्रंथ में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य की व्याख्या है।

इस ग्रंथ में पंचकोश-विवेक, तत्त्वंपदार्थ शोधन, महावाक्य विचार, जीव ब्रह्म की एकता, तथा प्रासंगिक आवश्यक विषय यथा वेद प्रमाण की सर्वोच्च मान्यता, वेदों का अद्वैतप्रतिपादन में तात्पर्य, ब्रह्म का स्वाभाविक स्वरूप जीव——इस का खण्डन, जीव की साधनबल से ईश्वरता——इस का खण्डन, सृष्टि का कारण असत् है——असत्वाद का खण्डन, ज्ञानकर्म का अंगांगीभाव। तथा ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खण्डन, ज्ञानियों और अज्ञानियों की दृष्टि में सृष्टि का स्वरूप, गुरु महिमा इत्यादि विषय दिये गये हैं। सूतसंहिता में कथित कतिपय विषयों को भगवत्पाद (भगवान शंकराचार्य) ने यतस्ततः संक्षेप में दिया है। सूतसंहिता के आवश्यक प्रमाण भी हमने अपनी प्रदीपिका में दिये हैं। सूतजी भगवान वेदव्यास के शिष्यों में से हैं। उन्होंने साक्षात् भगवान वेदव्यास से ही वेदान्त की शिक्षा पाई है। सूतसंहिता में उन्होंने श्रुतियों के तात्पर्य को स्पष्ट किया है। सूतगीता, ब्रह्मगीता आदि ग्रंथ भी सूतसंहिता के अन्तर्गत हैं।

श्रीगुरु के उपदेश से शिष्य की निर्विकल्प समाधि लग जाती है, और वह सृष्टि को 'अहं' रूप से देखता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य का तात्पर्य सर्वात्मरूपता में है। अकारादि क्षकारान्ता

अनुभवमालिका का प्रयोजन समस्त प्रपंच विस्तार को ब्रह्मरूप बताना है ।

हमने यह यत्न किया है कि प्रस्तुत प्रदीपिका यथासंभव अन्यग्रंथ निरपेक्ष हो, अतः आवश्यक प्रमाणों को एकत्रित करके यथास्थान लिख दिया है । भगवान शंकर के पंचरत्नों की टीकायें श्री गुरुकी कृपासे अब समाप्त हो रही हैं । जैसे ब्रह्मावतार सुरेश्वराचार्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि लिख कर कहा था, वैसे ही––

न ख्याति हेतोर्न च लाभहेतो र्नाप्यर्चनायै लिखिता सुव्याख्या ।
नोल्लंघनीयं वचनं गुरूणां नोल्लंघने स्याद् गुरुशिष्यभावः ।।

भगवान शंकराचार्य के पंचरत्नों पर टीका न तो ख्याति के लिये लिखी हैं, न आर्थिक लाभ के लिये और न ही पूजा के लिये । गुरु लोगों का वचन उल्लंघन न करना चाहिए । उल्लंघन करने पर गुरु-शिष्यभाव ही नष्ट हो जाता है ।

अद्वैतवेदान्त के शांकरसिद्धान्त

इन पंचरत्नों में अद्वैतवेदान्त के प्रायः सभी सिद्धान्त आ गये हैं । प्रत्येक ग्रंथ की विशेषता व्यक्तिगत ग्रंथों के प्राक्कथन में दे दी गई है । अद्वैतवेदान्त के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं :––

(१) ब्रह्म

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द लक्षणवाला एक अद्वितीय तत्त्व है, जो कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में अहम् करके बुद्धि के साक्षी रूप से स्फुरित होता है ।

(२) माया

ब्रह्म की अव्यक्तनाम की दिव्यशक्ति है जो कि न तो सत् है, न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है, न अभिन्न । यह माया महा अद्भुता और अनिर्वचनीया है । ब्रह्म के प्रकाश से चेतन सी होकर सृष्टि की रचना करती है । यद्यपि माया अनादि है, पर ब्रह्मज्ञान से नष्ट हो जाती है ।

(३) संसार

संसार ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है । मूढ़ों

की दृष्टिमें संसार सत्य है। जिज्ञासुओं की दृष्टि से अनिर्वचनीय है, ज्ञानियों की दृष्टि से यह ब्रह्म में आरोपित ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्म रूप ही है। विज्ञानियों की दृष्टि से संसार का अन्त्यन्त अभाव है।

(४) संसार प्रतीति का कारण

संसार की प्रतीति का कारण ब्रह्म का अज्ञान है। निष्प्रपंच ब्रह्म में अज्ञान से सृष्टि का आरोपण है। ज्ञान होने पर संसार का अधिष्ठान ब्रह्मतत्त्व ही शेष रहता है। जैसे ईषत्-अंधकार में रस्सी ही सर्प होकर भासती है वैसे ही अज्ञान के योग से ब्रह्म ही जगत् होकर भासता है। जैसे प्रकाश होते ही रस्सी स्पष्ट हो जाती है और सर्प का खोज भी नहीं मिलता, वैसे ही ज्ञान होने पर जगत् का खोज भी नहीं मिलता। केवल सत्य ब्रह्म ही अवशेष रहता है। असंग ब्रह्म का संसार के साथ कोई भी संबंध नहीं है जैसे कि रस्सी का सर्प के साथ कोई संबंध नहीं होता।

(५) जीव

पारमार्थिक सत्ता से जीवात्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु है। अविद्या उपाधि से चैतन्य ब्रह्म मोहित हुआ अपने को नश्वर जीव जानता है। उपाधि का कारण अज्ञान है। अज्ञान के नाश होने पर जीव स्वतः ब्रह्म हो जाता है क्योंकि वह सदा से ब्रह्म ही रहा है, और रहेगा। अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता तथा परतन्त्रता जीव के लक्षण हैं।

(६) ईश्वर

माया उपाधि से ब्रह्म ही ईश्वर हो जाता है। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतंत्रतादि उस के लक्षण हैं। उपाधि व्यपोहन से वही ब्रह्म ज्यों का त्यों रहता है।

(७) मोक्ष

जीव तथा ईश्वर की एकता का अनुभव ज्ञान मोक्ष है। ज्ञान से कैवल्य मोक्ष होता है। अपने स्वरूप में स्थिति का नाम मोक्ष है।

वैशाख शुक्ल ५, विक्रमसम्वत २०२४
भगवान् आद्य शंकराचार्यजयन्ती
१४–५–१९६७

विनीत—
मनोहर लाल शर्मा

॥ श्री ॥

॥ स्वात्मनिरूपणम् ॥

विषय-सूची

प्राक्कथन		क
श्रीशंकराचार्य के १०८ नाम वाला स्तोत्र		ङ
प्रदीपिका प्रशस्ति		थ
मंगलाचरण		न

श्लोक	विषय	पृष्ठ
मंगलाचरणम्		
१ श्रीगुरुचरणद्वन्द्वम्०——	श्रीगुरु को प्रणाम।	१
२ देशिकवरम्०——		३
अधिकारी निरूपण		
३ संसारदावपावकः०——	अनुवन्धनिरूपणम्।	४
स्वात्मनिरूपण		
४ अस्ति स्वयमिति०——		६
५ नाहमिति०——	मुख्यग्रंथ आरम्भ।	६
६ ब्रह्म त्वमेव०——		८
पंचकोश विवेक		
७ न क्लेशपंचकमिदम्०——	पंचकोशविवेक कर्तव्य।	८
८ अन्नप्राणमनोमय०——	पंच कोशों के नाम।	१०
९ वपुरिदम्०——	अन्नमय कोश आत्मा नहीं है।	११
१० कोशः प्राणमयः०——	प्राणमय कोश आत्मा नहीं है।	१३
११ कुरुते वपुष्यहंताम्०——	मनोमय कोश आत्मा नहीं है।	१४
१२ सुप्तौ स्वयं विलीना०——	विज्ञानमय कोश आत्मा नहीं है।	१६
१३ सुप्तिगतैः सुखलेशैः०——	आनन्दमयकोश आत्मा नहीं है।	१७

आत्मतत्त्व

१४ यः स्फुरति०—	सर्वान्तर आत्मा।	१८
१५ अन्नमयादेः०—		१९
१६ स्वयमेवानुभवत्वात्०—	अनुभविता, साक्षी आत्मा है।	२०
१७ अनुभवति विश्वमात्मा०—		२१
१८ तदिदं तादृशम्०—	तत्, इदं, तादृश, ईदृश आदि	२२
१९ इदमिदमिति	प्रत्ययों से ब्रह्म निरूपण नहीं	२३
२० नावेद्यमपि०—	किया जा सकता। पंचकोश	२५
२१ सति कोशशक्त्युपाधौ०—	निषेध के उपरान्त जो अवशेष	२६
२२ सति सकलदृश्यवाधे०—	अधिष्ठान है, वह आत्मा है। यह वेदसिद्ध है, लोकसिद्ध नहीं।	२७
२३ एवं मतिरहितानाम्०—	मतिरहितों को आत्मा प्रत्यक्ष नहीं।	२८

तत्त्वम्पदार्थविचार

२४ तस्मात्पदार्थशोधन०—	महावाक्य से आत्मसाक्षात्कार।	२९
२५ देहेन्द्रियादि०—	त्वम्पद का वाच्यार्थ।	३१
२६ देहस्य चेन्द्रियाणाम्०—	त्वम्पद का लक्ष्यार्थ।	३३
२७ वेदावसानवाचा०—	तत्पद का वाच्यार्थ।	३४
२८ विविधोपाधि०—	तत्पद का लक्ष्यार्थ।	३५

संबंधत्रितय लक्षण

२९ सामानाधिकरण्यम्०—	संबंधत्रय के नाम।	३७
३० एकत्र वृत्तिरर्थे०—	समानाधिकरण संबंध।	३८
३१ प्रत्यक्त्वपरोक्षत्वे०—	विशेषण-विशेष्य संबंध।	३९

लक्षणावृत्ति

३२ मानान्तरोपरोधात्०—	लक्षणा संबंध।	४०
३३ निखिलमपि०—	जहती लक्षणा।	४२
३४ वाच्यार्थमत्यजन्त्या०—	अजहती लक्षणा।	४३
३५ जहदजहतीति०—	जहत-अजहती लक्षणा।	४५

३६ सोऽयं द्विजः०——	जहत्-अजहती लक्षणा से तत्	४६
३७ तद्वत्तत्त्वमसीति०——	त्वं पदों की अखंडैकरसता।	४६
३८ इत्थं बोधितमर्थम्०——	महावाक्य का फल।	४८
३९ प्रायः प्रवर्तकत्वम्०——	विधि वाक्यों से प्रवृत्ति।	४८
४० विधिरेव न०——	इसका खंडन।	५०

सद्गुरु की आवश्यकता

४१ ऐक्यपरैः श्रुतिवाक्यैः०——	सद्गुरु कृपासे ब्रह्मज्ञान, कर्म	५१
४२ विरहितकाम्य०——	से ज्ञान नहीं।	५४
४३ कर्मभिरेव न बोधः०——		५५

वेदप्रमाण की मान्यता

४४ वेदोऽनादितया०——	वेद अनादि अथवा ईश्वर	५७
४५ नापेक्षते यदन्यत्०——	प्रणीत होनेसे उसकी सर्वोच्च	५८
४६ मानं प्रबोधयन्तम्०——	प्रामाणिकता। अन्य प्रमाण	५९
४७ वेदोऽनादिः०——	वेद से प्रकाशित। अद्वैत	६०
४८ रूपाणामवलोके०——	सिद्धान्त में वेद ही प्रमाण।	६१
४९ निगमेषु०——		६१

वेदों का तात्पर्य अद्वैत प्रतिपादन में

५० अंशद्वयवति०——	वेद में द्वैत और अद्वैत।	६३
५१ अद्वैतमेव सत्यम्०——	अद्वैत ही सत्य है। द्वैत तो	६३
५२ आरोपितं यदि०——	अद्वैत में आरोपित है। शून्य	६५
५३ यद्यारोपणम्०——	निराधार होता है। अद्वैत	६६
५४ प्रत्यक्षाद्यनवगतम्०——	सुखरूप है, द्वैत दुःखरूप है।	६६
५५ अद्वैतं सुखरूपम्०——		६७

ब्रह्म का स्वाभाविक स्वरूप जीव——इसका खंडन

५६ निगमगिरा०——	ब्रह्म का स्वाभाविक स्वरूप जीव,	६८
५७ स्वाभाविकं यदि०——	इस पक्ष का खंडन।	६९

साधनबल से जीव का परमात्मत्व——इसका खंडन

५८ यद्वदयो रसविद्धं०——	जीव साधनवल से ब्रह्मत्व प्राप्त करता है।	७०

५९ तदिदं भवति न०——	इस पक्ष का खंडन।	७१
६० जीवत्वमपि०——	उपसंहार।	७२
६१ तस्मात्स्वतः०——		७३
६२ यदि वा परेण०——		७४
६३ तस्मात्परम्०——		७७
६४ सत्यं ज्ञानमनन्तं०——	ब्रह्म के लक्षण।	७८
६५ एकत्व-बोधकानां०——	वेद के अन्यवाक्य महावाक्यों के शेषभूत।	७९
६६ यस्मिन्मिहिरवत्०——	आत्मा में कर्तृत्वादिका अभाव।	८२

ज्ञान कर्म का अंग है——इसका खंडन

६७ कर्मप्रकरणनिष्ठं०——	अधिकार और विषय भेद होने	८३
६८ अधिकारिविषय०——	से ज्ञान कर्म का अंग नहीं।	८४

ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खंडन

६९ ज्ञानं कर्मणि न०——	ज्ञान में कर्म का अभाव और	८५
७० तस्मान्मोहनिवृत्तौ०——	कर्म में ज्ञान नहीं। अज्ञान	८८
७१ ज्ञानं तदेव०——	नाश में अकेला ज्ञान ही	९०
७२ रज्ज्वादेरुरगाद्यैः०——	समर्थ है।	९०
७३ कर्तृ च कर्म०——		९१
७४ कर्तृत्वादिकम्०——	चैतन्य ब्रह्म ही जगत् का कारण।	९२
७५ तस्मिन्ब्रह्मणि०——		९३
७६ तदिदं कारणं०——		९३

असत्-कारणवाद खंडन

७७ कारणमसदिति०——	जगत्का कारण असत् नहीं	९४
७८ कारणमसदिति कथयन्०——	हो सकता।	९५
७९ यस्मान्न०——		९६
८० जगदाकारतया०——	जगदाकार से ब्रह्म ही	९७
८१ सत्यं जगदिति०——	भासता है।	९८
८२ परिपक्वमानसानाम्०——		९९
८३ अनवगतकाञ्चन०——		९९

अहम् पद को दो अर्थ

८४ अहमालम्बनसिद्धं०——	अहम्पद सर्व को प्रत्यक्ष।	१००
८५ अहमिदमिति०——		१०१
८६ वपुरिन्द्रियादि०——	देहादि में अहंबुद्धि मिथ्या।	१०२
८७ तस्मादशेष०——	अहम् का मुखार्थ आत्मा, गौणार्थ देहादि।	१०३
८८ तस्मात्सर्वशरीर०——	अहम् का मुख्यार्थ ब्रह्म, मिथ्यार्थ अहंकार।	१०३
८९ गोशब्दार्थः०——	'गो'शब्द का मुख्यार्थ गोजाति गौणार्थ गो-व्यक्ति।	१०४
९० दग्धृत्वादि०——	अध्यारोपण।	१०६
९१ देहेन्द्रियादिदृश्य०——		१०७

विविध विषय

९२ यद्वत्सुखदुःखानां०——	अवयवभेद से अनेकता।	१०८
९३ किमिदं किमस्य०——	जगत् का चिन्तन न करे।	१०८
९४ दन्तिनि दारुविकारे०——		१०९
९५ आत्ममये महति०——	आत्मपट पर सृष्टि।	११०
९६ चिन्मात्रं०——	विद्वानों का निश्चय।	१११
९७ व्यवहारस्य दशेयं०——	व्यवहार दशा में विद्या अविद्या का भेद।	१११
९८ अस्ति अन्यदिति०——	माया की प्रतीति।	११२
९९ तत्त्वावबोधशक्त्या०——		११३
१०० एष विशेषः०——	ज्ञानियों की दृष्टि में जगत्।	११४
१०१ किं चिन्त्यम्०——		११४
१०२ निखिलं दृश्यविशेषं०——	ज्ञानियों को बंधन नहीं।	११५
१०३ असकृदनुचिन्त०——	स्वात्मनिरूण ग्रंथ के उपदेश की श्लाघा।	११६
१०४ इति बोधितः०——	शिष्य का ज्ञान में जागरण।	११७

अकारादि क्षकारान्ता अनुभवमालिका

१०५. अजरोऽहं०—— १२०
१०६ आद्योऽहं०—— १२०
१०७ इहपरसुखविमुख:०—— १२१
१०८ ईशोऽहं०—— १२१
१०९ उदयोऽहमेव०—— १२२
११० ऊर्जस्वलनिज०—— १२३
१११ ऋषिरहं०—— १२३
११२ एकोऽहं०—— १२४
११३ ऐक्यावभासक:०—— १२४
११४ ओजोऽहं०—— १२५
११५ औषधमहं०—— १२६
११६ अंकुशमहं०—— १२६
११७ अस्तविकल्प०—— १२७
११८ करुणारसभरित:०—— १२८
११९ खानामगोचर:०—— १२८
१२० गलितद्वैतकथ:०—— १२९
१२१ घनतरविमोह०—— १२९
१२२ चरदचरदा०—— १३०
१२३ छन्द:सिन्धु०—— १३०
१२४ जलजासन०—— १३१
१२५ झंकृतिहुंकृति०—— १३१
१२६ ज्ञानमहं०—— १३२
१२७ तत्त्वातीतपदोऽहं०—— १३३
१२८ दैवतदैत्य०—— १३३
१२९ धर्माधर्ममय:०—— १३४
१३० नामादिविरहित:०—— १३४
१३१ परजीवभेदवाधक०—— १३५
१३२ फणधरभूधर०—— १३६

१३३ बद्धो भवामि०— १३६
१३४ भक्तिरहं०— १३७
१३५ मान्योऽहमस्मि०— १३७
१३६ यजनयजमान०— १३८
१३७ रक्षाविधान०— १३९
१३८ लक्षणलक्ष्य०— १४०
१३९ वर्णाश्रमरहित०— १४०
१४० शमदमविरहित०— १४१
१४१ षड्भावविरहित०— १४२
१४२ संवित्सुखात्मक०— १४३
१४३ हव्यमहं०— १४३
१४४ क्षालितकलुष०— १४४
१४५ वहुभिः किम्०— १४५

सद्गुरु प्रसाद महिमा

१४६ शरणं न भवति०— १४५
१४७ आस्ते देशिकचरणं०— १४६
१४८ कारुण्यसारसान्द्राः०— १४७
१४९ कवलितचञ्चल०— १४८
१५० मयि सुखबोधपयोधौ०— १४९
१५१ गुरुकरुणयैव०— १४९
१५२ सति तमसि०— १५०

आत्मबोध महिमा

१५३ इत्यात्मबोधलाभं०— १५१
१५४ मोहान्धकारहरणं०— १५२

—:०:—

॥ श्रीरस्तु ॥

श्रीशंकराचार्याणाम्-अष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्रम्
(हिन्दी अनुवाद सहित)

अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम्

श्री शङ्कराचार्यवर्यो ब्रह्मानन्द-प्रदायकः ।
अज्ञानतिमिरादित्यस्सुज्ञानाम्बुधिचन्द्रमाः ॥१॥

१––आचार्य श्रेष्ठ शंकर, २––ब्रह्मानन्द को प्रकर्षता से देने वाले, ३––अज्ञानरूपी अन्धकार को नाश करनेवाले ज्ञान सूर्य, ४––ब्रह्मविद्या सागर के चन्द्रमा ॥१॥

वर्णाश्रम-प्रतिष्ठाता श्रीमान्मुक्ति-प्रदायक : ।
शिष्योपदेश-निरतो भक्ताभीष्टप्रदायकः ॥२॥

५––वर्णाश्रमधर्म के आदर्श की प्रतिष्ठा करने वाले, ६––श्री सहित, ७––मोक्ष देनेवाले, ८––शिष्यों के लिये उपदेश करने में रत ९––भक्तों को इच्छित फल देनेवाले ॥२॥

सूक्ष्मतत्त्वरहस्यज्ञः कार्याकार्य-प्रबोधकः ।
ज्ञानमुद्राञ्चितकरश्शिष्यहृत्तापहारकः ॥३॥

१०––ब्रह्मतत्त्व के रहस्य जाननेवाले, ११––कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद वताने वाले, १२––ज्ञानमुद्रा से युक्त करवाले, १३––शिष्यों के संसारताप को हरने वाले ॥३॥

परिव्राज्याश्रमोद्धर्ता सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रधीः ॥
अद्वैतस्थापनाचार्यस्साक्षाच्छंकररूपभृत् ॥४॥

१४––संन्यास आश्रम के उद्धार करने वाले, १५––सर्वतन्त्रों से विलक्षण स्वतंत्रतंत्र (सौन्दर्य लहरी) की रचना में बुद्धि वाले, १६––अद्वैतवेदान्त सिद्धान्त के प्रस्थापक आचार्य, १७––प्रत्यक्ष शंकरावतार ॥४॥

षण्मतस्थापनाचार्यस्त्रयीमार्गप्रकाशकः ।
वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो दुर्वादिमत-खण्डनः ।।५।।

१८--षट्शास्त्रों के यथार्थ तात्पर्य की स्थापना करने वाले, १६--निगमागम प्रतिपादित मार्ग को दिखाने वाले, २०--सांगोपांग वेद और उपनिषदों के तत्त्व जाननेवाले २१--अयथार्थ अर्थ करने वाले विपक्षियों के मत को खण्डन करनेवाले ।।५।।

वैराग्यनिरतश्शान्तस्संसारार्णवतारकः ।
प्रसन्नवदनाम्भोजः परमार्थप्रकाशकः ।।६।।

२२--शुद्ध वैराग्य से अलंकृत, २३--स्वरूप में समाहित, २४--संसार सागर को पार कराने वाले, २५--प्रफुल्लित मुखकमल वाले, २६--मोक्ष पद को प्रकाशित करनेवाले ।।६।।

पुराणस्मृतिसारज्ञो नित्यतृप्तो महान्मुनिः ।
नित्यानन्दो निरातंको निस्सङ्गो निर्मलात्मकः ।।७।।

२७--पुराण तथा स्मृतियों के सार को जानने वाले, २८--आत्माराम, २६--ब्रह्म होने से महान, ३०--मनन करने वाले, ब्रह्मवेत्ता, ३१--नित्य आनन्द स्वरूप, ३२--माया के अनर्थों से भयरहित, ३३--साक्षी, ३४ --निर्मल अन्तःकरण वाले ।।७।।

निर्ममो निरहंकारो विश्ववन्द्यपदाम्बुजः ।
सत्यप्रधानस्सद्भावस्संख्यातीत-गुणोज्ज्वलः ।।८।।

३५--ममता रहित, ३६--अहंकार रहित, ३७--समस्त संसार द्वारा पूजित चरणवाले, ३८--सत्त्वगुण प्रधान, ३९--मांगलिक भावों को आश्रय देनेवाले, ४०--अनेकानेक गुणों से उज्ज्वल ।।८।।

अनघस्सारहृदयस्सुधीस्सारस्वतप्रदः ।
सत्यात्मा पुण्यशीलश्च सांख्ययोग-विचक्षणः ।।९।।

४१--निष्पाप, ४२--सारग्राही, ४३--लक्ष्य में निश्चलबुद्धि, ४४--ज्ञान देनेवाले, ४५--सत्यस्वरूप, ४६--पुण्य आचरण वाले, ४७--सांख्य एवं योग के उद्भट विद्वान् ।।९।।

तपोराशिर्महातेजा गुणत्रयविभागवित् ।
कलिघ्नः कालकर्मज्ञस्तमोगुणनिवारकः ॥१०॥

४८——पूर्ण तपस्वी, ४९——महान तेजस्वी, ५०——सत्त्व, रज, तथा तम तीनों गुणों के भेद को जानने वाले, ५१—— कलिधर्मों को नष्ट करने वाले, ५२——काल और कर्म को जानने वाले, ५३——अज्ञान दूर करने वाले ॥१०॥

भगवान् भारतीजेता शारदाह्वान-पण्डितः ।
धर्माधर्मविधानज्ञो लक्ष्यभेद-प्रदर्शकः ॥११॥

५४——षडैश्वर्य सम्पन्न ५५——उभयभारती (मंडनमिश्र की भार्या) पर विजय पाने वाले, ५६——शारदापीठ में भगवती को आवाहन करने वाले, ५७——धर्म और अधर्म का भेद जाननेवाले, ५८——ज्ञान, उपासना और कर्म के लक्ष्यों के भेद के प्रकाशक ॥११॥

नादबिन्दुकलाभिज्ञो योगिहृत्-पद्मभास्करः ।
अतीन्द्रियज्ञाननिधि-र्नित्यानित्य-विवेकवान् ॥१२॥

५९——नाद, विन्दु और कला को जाननेवाले, ६०——योगियों के हृदयकमल को खिलाने वाले ज्ञानसूर्य, ६१——आर्ष (वैदिक) ज्ञान के सागर, ६२ नित्यात्मा और अनित्य दृश्यप्रपंच के भेदज्ञाता ॥१२॥

चिदानन्दश्चिन्मयात्मा परकाय-प्रवेशकृत् ।
अमानुष-चरित्राढ्यः क्षेमदायी क्षमाकरः ॥१३॥

६३——बोध और आनन्द, ६४——ज्ञानस्वरूप, ६५——योग द्वारा दूसरे के शरीर में प्रवेश करनेवाले, ६६——अलौकिक चरित्रवाले ६७——मंगल करने वाले, ६८——क्षमा करनेवाले ॥१३॥

भव्यो भद्रप्रदो भूरिमहिमा विश्वरञ्जकः ।
स्वप्रकाशस्सदाधारो विश्वबन्धुश्शुभोदयः ॥१४॥

६९——मन वचन काया से सुन्दर, ७०——कल्याण देने वाले, ७१——विशालकीर्ति, ७२——स्वज्ञान, तप एवं गुणों से संसार को

सुखदेने वाले, ७३—–स्वयंज्योति, ७४—–सत्तत्त्व का आधार रखने वाले। ७५—–संसार के परम बंधु, ७६—–जिनका दर्शन, आगमन शुभ हो ।।१४

विशालकीर्तिर्वागीशस्सर्वलोक-हितोत्सुकः ।
कैलासयात्रा-सम्प्राप्तचन्द्रमौलिप्रपूजकः ।।१५।।

७७—–विशालयश वाले, ७८—–सरस्वती के स्वामी, ७९—–प्राणीमात्र के हित की उत्कट कामना वाले, ८०—–कैलाशयात्रा में उपलब्ध चन्द्रमौलीश्वर की प्रतिष्ठा कर उनकी पूजा करने वाले ।।१५।।

काञ्च्यां श्रीचक्रराजाख्य-यन्त्रस्थापन-दीक्षितः ।
श्रीचक्रात्मकताटङ्क-पोषिताम्बामनोरथः ।।१६।।

८१—–काञ्ची में श्रीचक्रराज (श्रीविद्या यन्त्र) का स्थापन कर, उसकी दीक्षा में पण्डित, ८२—–श्रीचक्रराज ही भगवती का ताटंक है, उसकी पूजा से माता की इच्छा पूर्ण करने वाले ।।१६।।

श्रीब्रह्मसूत्रोपनिषद्भाष्यादि-ग्रन्थकल्पकः ।
चतुर्दिक्चतुराम्नाय-प्रतिष्ठाता महामतिः ।।१७।।

८३—–श्री बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शारीरक मीमांसा भाष्य तथा प्रमुख उपनिषदों पर शांकरभाष्य तथा अन्य ग्रंथों की रचना करने वाले, ८४—–भारत की चारों दिशाओं में चारों वेदों की रक्षा के लिये चार शंकराचार्यों के मठों के प्रतिष्ठापक, ८५—– प्रखर बुद्धिमान ।।१७।।

द्विसप्ततिमतोच्छेत्ता सर्वदिग्-विजयप्रभुः ।
काषायवसनोपेतो भस्मोद्धूलितविग्रहः ।।१८।।

८६—–बहत्तर मतमतान्तरों का खंडन कर अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त की स्थापना करनेवाले, ८७—–सब दिशाओं में शास्त्रार्थ के प्रचारार्थ दिग्विजय करने में समर्थ, ८८—–गेरुआ वस्त्र धारण करनेवाले, ८९—–भस्म को शरीर में रमाने वाले ।।१८।।

ज्ञानात्मकैकदण्डाढ्यः कमण्डलुलसत्करः ।
गुरुभूमण्डलाचार्यो भगवत्पादसंज्ञकः ॥१९॥

९०——ज्ञानरूप एक दंड से युक्त, ९१——कमण्डलु से शोभित हाथ वाले, ९२——अज्ञान को खंडन करने में समर्थ जो गुरुगण, उनके आचार्य, ९३——श्रीभगवत्पाद नाम से प्रसिद्ध ॥१९॥

व्याससन्दर्शनप्रीतः ऋष्यशृंगपुरेश्वरः
सौन्दर्यलहरीमुख्य-बहुस्तोत्र-विधायकः ॥२०॥

९४——भगवान् वेदव्यास के साक्षात् दर्शन करने से अति प्रसन्न, ९५——शृंगेरी पुर के स्वामी, ९६——सौन्दर्यलहरी आदि बहुत से स्तोत्रों की रचना करने वाले ॥२०॥

चतुष्षष्टिकलाभिज्ञो ब्रह्मराक्षसतोषकः ।
श्रीमन्मण्डनमिश्राख्य-स्वयम्भुजय-सन्नुतः ॥२१॥

९७——चौंसठ कलाओं के ज्ञाता, ९८——ब्रह्मराक्षस को उसके प्रश्नों का उत्तर देकर प्रसन्न करने वाले, ९९——ब्रह्मा के अवतार मंडनमिश्र को शास्त्रार्थ में विजित कर, उसके द्वारा नमस्कार किये जाने वाले ॥२१॥

तोटकाचार्यसम्पूज्यः पद्मपादार्चिताङ्घ्रिकः ।
हस्तामलकयोगीन्द्र-ब्रह्मज्ञानप्रदायकः ॥२२॥

१००——त्रोटकाचार्य द्वारा पूजित, १०१——पद्मपाद के द्वारा पूजित चरणवाले, १०२——हस्तामलक योगीन्द्र को ब्रह्मानन्द देने वाले ॥२२॥

सुरेश्वराख्यसच्छिष्य-संन्यासाश्रमदायकः ।
नृसिंहभक्तस्सद्रत्नगर्भहेरम्ब-पूजकः ॥२३॥

१०३——श्रेष्ठ शिष्य श्रीमंडनमिश्र को सुरेश्वराचार्य नाम से संन्यासाश्रम की दीक्षा देनेवाले, १०४——लक्ष्मी नरसिंह के भक्त, १०५——सद्रत्न-गर्भ गणेश की पूजा करनेवाले ॥२३॥

व्याख्यासिंहासनाधीशो जगत्पूज्यो जगद्गुरुः ।
इति श्रीशंकराचार्य-सर्वलोकगुरोः पदम् ।।२४।।

१०६——व्याख्यासिंहासन के अधीश्वर, १०७—— संसार के पूज्य, १०८—— संसार के गुरु सर्वलोकगुरु भगवान शंकराचार्य के ये १०८ नाम हैं ।।२४।।

नाम्नामष्टोत्तरशतं भुक्तिमुक्ति-फलप्रदम् ।।
त्रिसंन्ध्यं यः पठेद्भक्त्या सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।।२५।।

उनके १०८ नाम भोग और मोक्ष दोनों फल देनेवाले हैं । जो इन नामों को त्रिसंध्या (प्रातः काल, मध्यान्ह तथा सायंकाल) में भक्तिपूर्वक पढ़ेगा, उस की सब कामनाएँ पूर्ण होंगी ।।२५।।

इति श्रीशंकराचार्याणामष्टोत्तरशतनामस्तोत्रं सम्पूर्णम् ।।

——०——

प्रदीपिका-प्रशस्तिः

श्रीभाष्यकार-महिमाहित-दिव्य-दृष्ट्या,
सद्‌रत्न-माल्यमुकुटा गुणिनां सुचिन्त्या।
दिव्यार्थमन्त्रलसिता विमलप्रकर्षा,
सा भारती विजयते भुवि शांकरीया ॥१॥

श्रीमान् आद्यशंकराचार्य भगवान् भाष्यकार की सुनिपुण दिव्य-दृष्टि से प्रकाशित सुन्दर रत्नों से जड़ी हुई माला में मुकुटस्थानीय अतएव सहृदय विद्वद्वर्योंको चिम्तन मनन से आनन्ददायिनी, दिव्यअर्थ सम्पन्न मन्त्रों से युक्त और विमल प्रकर्ष वाली शंकर भारती संसार में आप्रलय विराजमान हो।

पारम्परीण - सुविचारित - भागधेयो,
गम्भीरभाव - प्रकटीकरणाय हृद्यः।
सद्ब्रह्मज्ञानपरमामृतरूपयुक्तो,
ग्रन्थश्चकास्ति विजयाय 'निरूपणाख्यः' ॥२॥

परम्परा से प्राप्त शास्त्र विचार ही एकमात्र जिसका भाग्य है, गम्भीर भावों के प्रकट करने के लिये सुन्दर और सद्ब्रह्म ज्ञान (अद्वैत ज्ञान) के परमोत्कृष्ट अमृत से पूर्ण ऐसा "स्वात्मनिरूपण" नामक ग्रन्थ जीवन में आत्मविजय के लिये हैं।

विशिष्टैराम्नायै - र्रुचिर - बहुरत्नै - र्विलसिता।
निगूढार्थज्ञान - प्रकरण - विकासोन्मुखवती।
'स्वयंसिद्धा' व्याख्या मुनिमनहरेणात्र रचिता।
कृति र्ध्येया नित्यं जगति परमाह्लादजनिका ॥३॥

उपयुक्त, प्रिय, रत्नतुल्य बहुत-सी श्रुतियों के प्रमाणों से शोभित, ज्ञानप्रकरण में छिपे हुए रहस्यों को विकसित करती हुई, श्रीमच्छंकर-

भगवत्पादप्रणीत 'स्वात्मनिरूपण' नामक ग्रंथ पर 'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका' नामवाली हिन्दी में व्याख्या विचारवान मनोहरलालशर्मा ने लिखी हैं। इस ग्रंथ का व्याख्या सहित नित्य अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि यह टीका संसार में परमानन्द उत्पन्न करने वाली है।

श्रीशंकरार्येण महेश्वरेण,
सच्छास्त्र - ग्रंथा रचिताः प्रभूताः।
तेष्वेव सज्ज्ञानविवर्धनाय,
रत्नानि भूयो विलसन्ति लोके ॥४॥

श्री आद्यगुरु शंकराचार्य ने जो कि शिव के साक्षात् अवतार हैं, अद्वैतवेदान्त पर मुमुक्षुओं के ज्ञानवर्धन के लिये वहुत से ग्रंथ लिखे हैं। उनमें से पाँच ग्रंथ पंचरत्न नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं।

मूर्धाभिषिक्तः सुमतः प्रसिद्धो विवेकचूडामणिनामधेयः।
प्रत्यक्षमोक्षाय हितो ऽ परो यो ऽ परोक्षपूर्वो ह्यनुभूतिसंज्ञः ॥५॥
जना विदुर्यं महिमप्रकर्षं तमात्मबोधं ललितोपमानम्।
सद्वाक्यवृत्त्या प्रथितश्चतुर्थस्तत्त्वादिवाक्यै र्विलसित्प्रबोधः ॥६॥
अन्वर्थनामा शुभसूक्तियुक्तो ग्रंथोऽस्ति वै स्वात्मनिरूपणाख्यः।
अद्वैत-वेदान्त-रहस्य-ज्ञाने भवाय लोकस्य भवन्तु पंच ॥७॥

इन पंचरत्नों में मूर्धा पर निवास करने वाला, विद्वानों से स्तुत्य प्रसिद्ध ग्रंथ 'विवेक चूडामणि' है। प्रत्यक्ष मोक्ष का हेतु दूसरा ग्रंथ 'अपरोक्षानुभूति' नाम वाला है। विद्वान लोग ललित उपमाओं से युक्त उच्च महिमा वाले आत्मबोध को तीसरा रत्न जानते हैं। 'वाक्यवृत्ति' चौथा रत्न कहलाता है। इसमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य के अर्थ का ज्ञान कराया है। जैसा नाम वैसे गुणवाला निपुण वाक्यों से युक्त पाँचवाँ रत्न 'स्वात्मनिरूपणम्' ग्रंथ है। अद्वैत-

वेदान्त के रहस्य खोलनेवाले लोकमंगल के लिये लोक में ये पाँच ग्रंथ-रत्न प्रसिद्ध हैं।

श्रीदेशिकादेश - सुपालनाय,
स्वाभीष्ट विज्ञान - सुमार्जनाय।
प्रदीपिकाः पंच विचारपुष्टा-
मोक्षार्थिनां मंगलसाधनाश्च ।।८।।

श्री गुरुदेव की आज्ञा पालन करने के लिये, निज बोध को शोधन करने के लिये, मुमुक्षुओं के मंगल साधन करनेवाली श्रीभगवत्पाद के अद्वैतवेदान्त के पंचरत्न ग्रंथों पर पाँच विचारपुष्ट प्रदीपिकाएं मननशील मनोहरलाल शर्मा ने लिखी हैं। अगले श्लोक में उनके नाम बताते हैं।

विवेकचूडामणेर्या वै ह्योंकारी सुप्रदीपिका।
प्रकरणैः सप्तभिर्युक्ता सप्तप्रकरणी ध्रुवा ।। ९ ।।
अपरोक्षानुभूतेश्च चन्द्रकान्तप्रदीपिका।
आत्मबोधस्य च पुनः ओंकारी नु प्रदीपिका ।।१०।।
वाक्यवृत्तेस्तुरीया वै जीवनी सम्प्रदीपिका।
पंचमस्य च रत्नस्य स्वयंसिद्धा प्रदीपिका ।।११।।

विवेकचूडामणि पर सप्तप्रकरणी-ओंकारी-प्रदीपिका, अपरोक्षानुभूति पर चन्द्रकान्त-प्रदीपिका, आत्मबोध पर ओंकारी-प्रदीपिका, वाक्यवृत्ति पर संजीवनी-प्रदीपिका, तथा पांचवें रत्न स्वात्मनिरूपण पर स्वयंसिद्धा-प्रदीपिका——इस प्रकार पाँच रत्नों पर पाँच टीकाएँ मननशील मनोहरलाल शर्मा ने लिखी हैं।

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीतम

स्वात्मनिरूपणम्

मंगलाचरणम्

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च,
व्यासं शुकं गौडपादं महान्तं गोविन्द-योगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ।
श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम्,
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून् सन्ततमानतोऽस्मि ॥१॥

ब्रह्मविद्या के आदिगुरु नारायण को, ब्रह्मा, वसिष्ठ, शक्ति तथा उनके पुत्र पराशर, वेदव्यास, शुकदेव, महान् गौडपादाचार्य, योगीराज गोविन्दपादाचार्य, उनके शिष्य श्रीमच्छंकरभगवत्पाद और उनके शिष्यसमुदाय पद्मपाद, हस्तामलक, त्रोटकाचार्य तथा सुरेश्वराचार्य एवं ब्रह्मविद्या के हमारे अन्यगुरुजनों को मैं सदा प्रणाम करता हूँ ॥१॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम् ॥२॥

श्रुति स्मृति और पुराणों के निधि, करुणा के सागर, लोक का कल्याण करने वाले भगवत्पाद भगवान शंकर को प्रणाम करता हूँ ॥२॥

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥३॥

मैं भगवान शंकराचार्य जो कि साक्षात् शंकर हैं, तथा भगवान वेदव्यास जो कि साक्षात् विष्णु हैं, इन दोनों को जो कि ब्रह्मसूत्र (वेदव्यास) तथा उस पर शांकरभाष्य (शंकराचार्य) के रचयिता हैं, पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ ।।३।।

नमो देवि महाविद्ये नमामि चरणौ तव।
सदा ज्ञानप्रकाशं मे देहि सर्वार्थदे शिवे ।।४।।

हे भगवति ब्रह्मविद्ये सरस्वति ! मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ। सब कामनाओं को पूरा करनेवाली मंगलमयि देवि ! आप मेरी बुद्धि को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करें ।।४।।

ओंकारं परमानन्दं विद्यावारिधिमद्वयम्।
मोहध्वान्तविनाशायाऽहस्करं तं नतोऽस्म्यहम् ।।५।।

गुरुदेव स्वामी ओंकाराश्रमजी दंडी को, जो ब्रह्मविद्या के अगाध सागर हैं, और ब्रह्मवित् होने से शुद्ध परमानन्दरूप ब्रह्म ही हैं, जो अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिये सूर्य-तुल्य हैं, उनको मैं प्रणाम करता हूँ ।।५।।

यस्य कारुण्यदृष्टचैव जडो भवति बोधवान्।
महावेदान्तपञ्चास्यं यतिवर्यं नतोऽस्म्यहम् ।।६।।

जिनकी कृपाकटाक्षमात्र से मूढ भी ज्ञानवान हो जाता है, ऐसे महावेदान्तकेसरी श्रेष्ठ संन्यासी को मैं प्रणाम करता हूं ।।६।।

—o—

ॐ

श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीतम्

स्वात्मनिरूपणम्

(स्वयंसिद्धा प्रदीपिका सहित)

टीकाकार––पं० मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न'

मंगलाचरणम्

श्रीगुरुचरणद्वन्द्वं वन्देऽहं मथितदुःसहद्वन्द्वम् ।
भ्रान्तिग्रहोपशान्तिं पांसुमयं यस्य भसितमातनुते ॥१॥

अर्थ––मैं सद्गुरु के चरणयुगल में प्रणाम करता हूँ । ये चरण दु:सह्य सुखदु:खरूप द्वैत का मथन करते हैं और अज्ञानरूपी ग्रह का उपशमन करते हैं । इन चरणों की धूलि अज्ञान की धूलि फैलाती (उड़ाती) है ।

व्याख्या––शास्त्रमर्यादानुसार भगवान् भाष्यकार ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये दो श्लोकों में अपने शरीर के सद्गुरु को प्रणाम करते हैं ।

श्रीगुरुचरणद्वन्द्वम् वन्दे अहम्––मैं ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय सद्गुरु के चरणयुगल को प्रणाम करता हूँ । चरणों को क्यों, हाथों को क्यों नहीं ? इसलिये कि चरण शक्ति के प्रतीक हैं । समस्त शरीर का भार वहन करने वाले गमनागमनक्रियात्मक चरणों से शक्ति का प्रवाह होता है । मन्त्र जप से पूर्व पावों में मंत्रशक्ति का न्यास किया जाता है । व्यर्थ शक्तिप्रवाह भय से बहुत से महात्मा अपने चरणों को स्पर्श नहीं करने देते । दूसरे, चरण शरीर का सब से अधोभाग

है। शिष्य जब चरणों में प्रणाम करता है तो निरहंकार हो जाता है। गुरुओं के सामने अहंकार करना सिद्धि में अनिष्टकर है। तीसरे चरणों में प्रणाम करने से शिष्य को गुरुशक्ति से बल मिलता है।

किस प्रकार के चरण हैं? **मथित-दुःसहद्वन्द्वम्**–जिस चरणयुगल ने असहनीय दुःख देनेवाले द्वैत का मथन सा कर दिया है। शंका–चरण किस प्रकार अज्ञान का मथन करेंगे? अज्ञान मिट्टी के ढेले तो नहीं जिन पर पानी डाल कर पांव से मथ सकें। समाधान––श्रीगुरु चरण सेवा से गुरु के हृदय में प्रसन्नता होती है। ममत्व का अदृढ़ अंकुर उठता है और श्रीगुरु शिष्य की ओर करुणादृष्टिपात करके उसके पातक दहन करते हैं तथा लक्षणों को देख कर यथायोग्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करते हैं। शिष्य उस उपदेश का मनन निदिध्यासन करता है, फिर महावाक्य के सिद्ध होने पर आत्मदर्शन करता है। सन्मार्ग गुरु ही निर्दिष्ट करते हैं। आत्मदर्शन से अविद्यानाश होता है। श्रीगुरुचरणयुगल द्वारा द्वैत मथन का यही तात्पर्य है। मथन का अर्थ अस्त-व्यस्त करना, निर्जीव सा करना है। वह फिर भी तो सजीव हो सकता है, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं।

और कैसे हैं चरण? **भ्रान्तिग्रहोपशान्तिम्**––अज्ञानरूपी क्रूर ग्रह का उपशमन करने वाले चरणयुगल को। साधारण ग्रह दंड दे कर अथवा अनुग्रह करके इसी लोक में अपना कार्य समाप्त कर देते हैं, परन्तु अज्ञान नामक ग्रह आजन्ममरणान्त अपना दुष्प्रभाव रखता है, और परलोक में भी पीछा नहीं छोड़ता, पुनर्जन्म का कारण वनता है। श्रीगुरु-चरणों की कृपा से यह घोरग्रह भी शान्त हो जाता है, दुष्प्रभाव डालने में सामर्थ्यरहित हो जाता है। प्रयोजन यह है कि मथित द्वैत को, ग्रहों की कृपा से, नूतन जीवन नहीं मिलता, और कैसे हैं उनके चरण? **पांसु-मयम् यस्य भसितम् आतनुते**––जिस गुरु के धूलियुक्त चरण अज्ञान का मथन करके, पुनर्जन्म का मार्ग अवरुद्ध करके द्वैत की धूलि फैला देते हैं। अज्ञान मंथन का अर्थ है ब्रह्मविद्या का श्रवण। इसके

श्रवणमात्र से अज्ञान तिलमिला उठता है, नष्ट नहीं होता, भ्रान्तिग्रहोपशान्ति का अर्थ है मनन निदिध्यासन। इनके अभ्यास से अज्ञान का विस्तार क्षीण होता है, और अज्ञान की धूलि उड़ाने का अर्थ है आत्माका साक्षात्कार। आत्मसाक्षात्कार होने पर अज्ञान नष्ट हो जाता है। यह अभिप्राय है। गुरु किसे कहते हैं—

'गुकारस्यान्धकारोऽर्थो रुकारस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद्-गुरुरित्यभिधीयते ।।

(ब्रह्माण्ड–पुराण)

इस श्लोक में गुरु की व्युत्पत्ति बताते हैं। गुकार का अर्थ अन्धकार (अज्ञान) होता है और रुकार का अर्थ अन्धकार का नाशक, यानी प्रकाश होता है। अन्धकार का नाश करने से गुरु कहलाता है।।१।।

देशिकवरं दयालुं वन्देऽहं निहत-निखिल-सन्देहम्।
यच्चरणद्वयमद्वयमनुभवमुपदिशति तत्पदस्यार्थम् ॥२॥

अर्थ—मैं कृपालु श्रेष्ठ गुरु को प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने समस्त सन्देहों का नाश करदिया है, और जिनके चरणयुगल ने तत्पद के लक्षित अर्थ, अद्वितीय ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया है।

व्याख्या—देशिकवरम् दयालुम् वन्दे अहम्—मैं ब्रह्मनिष्ठ, ज्ञान की चतुर्थभूमि के विद्वान शास्त्रज्ञ दयालु श्रेष्ठ सद्गुरु को प्रणाम करता हूँ। पांचवी छठी भूमिका के ज्ञानी की वृत्ति स्वरूप में लय होने से वे उपदेश के योग्य नहीं रहते। अधिकारी को देख कर दया करनेवाले सद्गुरुजन पूजा, धन, सेवा तथा यश के लोभ से शिष्यसंग्रह नहीं करते। ब्रह्मविद्या की परम्परा की रक्षा के लिये अधिकारी पर गुरुलोग दया करते हैं।

किस प्रयोजन से प्रणाम करता है? **निहतनिखिलसंदेहम्**—क्योंकि सद्गुरु ने शिष्य के ब्रह्मविद्या विषयक समस्त संदेह

निवारण कर दिये हैं । सन्देह किस प्रकार के ? उपनिषदों का प्रयोजन ब्रह्म को सत्य बताने में है या जगत् को, जीव ब्रह्म है कि उस से भिन्न, अर्थात् दीनता दुःखितादि जीव के स्वभाव हैं कि सत्ता आनन्दरूपतादि उसके स्वभाव हैं, इत्यादि प्रकार के सन्देहों का श्रीगुरु ने समाधान कर दिया है, प्रणाम करने का और क्या कारण है ? **यत् चरणद्वयम् अद्वयम् अनुभवम् उपदिशति तत्पदस्य अर्थम्**--जिस के चरणयुगल ने अद्वैत ब्रह्म की अनुभूति प्राप्ति का उपदेश दिया है, वह अनुभूति क्या है ? 'तत्' पद से लक्षित अर्थ की अनुभूति अर्थात् ब्रह्म के दर्शन का उपाय जिस ने बताया है, ऐसे श्रीगुरु को मैं प्रणाम करता हूँ। बड़ा आश्चर्य है कि यद्यपि चरण तो दो हैं परन्तु वे ज्ञान कराते हैं अद्वय का ।।२।।

अगले श्लोक में ग्रंथ का अधिकारी, विषय तथा प्रयोजन बताते हैं ।

संसारदावपावकसंतप्तः सकलसाधनोपेतः ।
स्वात्मनिरूपण-निपुणैर्वाक्यैः शिष्यः प्रबोध्यते गुरुणा ।।३।।

अर्थ--संसाररूपी वन की अग्नि से संतप्त ज्ञान के सर्व साधनों से युक्त कोई शिष्य श्री गुरुद्वारा स्वात्मनिरूपण संबंधी चतुर वाक्यों से जगाया जाता है ।

व्याख्या--संसार-दाव-पावकसंतप्तः--संसाररूपी वन की अग्नि से तपायमान, संसार से भयभीत, दुःखी कोई शिष्य । संसार से तो सभी तपायमान हैं, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं **सकल-साधन-उपेतः**--ज्ञान के सभी बहिरंग साधनों से युक्त। विवेक, वैराग्य षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता--ये चार ज्ञान के साधन हैं । इन से युक्त । प्रयोजन यह है कि ज्ञानसाधनसम्पन्न ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है अन्य नहीं । इहलोक और परलोक के भोगों में घृणा वैराग्य कहलाता है। आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व में भेदज्ञान को

विवेक कहते हैं। शम-दम-उपरति - तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान, इनको षट् सम्पत्ति कहते हैं। यह छः साधन मिल कर षट्-सम्पत्ति नामक एक साधन गिना जाता है। मनोनिग्रह का नाम शम, इन्द्रियदमन का नाम दम, भोगों के उपस्थित होने पर भी उनमें रुचि न होना उपरति कहलाता है, गर्मी सरदी, सुखदुःखादि द्वन्द्वों को सहने की शक्ति तितिक्षा कहलाती है, शास्त्र एवं गुरु के वचनों में विश्वास का नाम श्रद्धा तथा चित्त की लक्ष्य में एकाग्रता का नाम समाधान, मुमुक्षुता—संसार बन्धनों से छूटने की दृढ़ इच्छा का नाम मुमुक्षुता।

इन साधनों से विशिष्ट शिष्य **स्वात्मनिरूपण–निपुणैः वाक्यैः शिष्यः**—अपने आत्म स्वरूप को निरूपण करनेवाले, अर्थात् 'मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है?' इस प्रकार अपने निजी आपे को समझाने वाले इस, ग्रंथ के चतुर अर्थात् शास्त्रसम्मत प्रमाण तथा अनुभवयुक्त वचनों, श्लोकों से। ऐसे कुशल वचन जो शिष्य के अज्ञानांधकार को दूर करके ज्ञानरूप आत्मा में जगा सकें। जो वचन भी अपना कार्य साध सकें वही वचन कुशल हैं। 'कलेजे में जो चुभ जाये उसी को तीर कहते हैं, कलेजा पार कर जाये उसे शमशीर कहते हैं।' निपुण वाक्य का अर्थ है ऐसे वाक्य जो अज्ञान के कलेजे को चीर सकें। भगवान भाष्यकार की भारती में ऐसी ही क्षमता है। ऐसे वचनों से शिष्य **प्रबोध्यते गुरुणा**—जगाया जाता है, कौन? शिष्य, किससे? ब्रह्मनिष्ठ, अधिकारी पर दया करनेवाले श्रोत्रिय सद्गुरु से। कहाँ जगाया जाता है? अपने स्वरूप में।

'मैं वास्तव में कौन हूं? मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है?' इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर को अथवा आत्मानुसंधान को स्वात्मनिरूपण कहते हैं। 'मैं जन्ममरणधर्मा दीनदुःखी जीव हूँ कि अविनाशी आनन्दरूप आत्मा हूँ।' इस प्रकार के प्रश्नों के निर्णय को स्वात्मनिरूपण कहते हैं। इस ग्रंथ का विषय स्वात्मनिरूपण है, अर्थात् मैं कौन हूँ। इस ग्रंथ का प्रयोजन मुमुक्षु को अपने स्वरूप में जागृत करना है ॥३॥

इस से आगे मुख्यग्रंथ आरम्भ होता है। चौथे, पाँचवें तथा छठे श्लोकों की वचन निपुणता श्लाघनीय है।

अस्ति स्वयमित्यस्मिन्नर्थे कस्यास्ति संशयः पुंसः
अत्रापि संशयश्चेत्संशयिता यः स एव भवति त्वम् ॥४॥

अर्थ––'अपने आप हैं' इस विषय में क्या किसी पुरुष को संदेह है? यदि अपने होने में भी किसी को संदेह हो तो वह सन्देह करने-वाला ही सत्तावान है, और वही सत्तावान तू है।

व्याख्या––श्रीगुरु समझाने के लिये प्रश्न करते हैं। यहाँ से मुख्यग्रंथ आरम्भ होता है। **अस्ति स्वयम् इति अस्मिन् अर्थे**–'अपने आप हैं' इस तथ्य में **कस्य अस्ति संशयः पुंसः**––क्या कोई ऐसा जड़ पुरुष है जिसे संदेह हो? क्या कोई ऐसा वज्रमूढ भी हो सकता है जिसे अपने होने में भी सन्देह हो! 'मैं हूँ कि नहीं हूँ' क्या कोई यह भी नहीं जान सकता?

अब श्रीगुरु स्वयं ही उत्तर देते हैं। **अत्र अपि**––इतने स्पष्ट और स्वयंसिद्ध विषय में भी **संशयः चेत्**––यदि किसी को संशय है, यदि कोई अपनी सत्ता में भी संदेह करे तो हम कहते हैं **संशयिता यः सः एव त्वम् भवसि**––जो संदेह करनेवाला है वही स्वयं है, उसी की सत्ता है, और हे शिष्य! वही शाश्वत सत्तावाला तू है। तेरा होना निर्विवाद है। तात्पर्य यह है कि स्वात्मनिरूपण में अपने आपेकी सत्ता और ज्ञान दो लक्षण हैं। हे शिष्य! तेरा होना, और होने का ज्ञान तुझको निस्सन्देह है। अतः 'मैं कौन हूँ' इस की पहचान के दो लक्षण तो ये हैं––सत्ता और ज्ञान, इन दो लक्षणों वाला तू है। और लक्षण आगे बतायेंगे ॥४॥

नाहमिति वेत्ति योऽसौ सत्यं ब्रह्मैव वेत्ति नास्तीति।
अहमस्मीति विजानन्ब्रह्मैवाऽसौ स्वयं विजानाति ॥५॥

अर्थ-- 'मैं अहंकार नहीं हूँ, यह दृश्य सत्य नहीं है', इस प्रकार जो जानता है वह ब्रह्म को ही जानता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार जो जानता है, वह ब्रह्म ही है, क्योंकि वह अपने आपे को जानता है।

व्याख्या--पहले व्यतिरेक से समझाते हैं। **'न अहम्' इति वेत्ति**--मैं अज्ञान का प्रथम विकार,अन्त:करण की अहंकार नामक वृत्ति जो कि स्थूलदेह, मन, प्राण, इन्द्रियों आदि में अभिमान करती है वह अहंकार मैं नहीं हूँ। इस प्रकार अपने को जो अहंकार नहीं जानता, तो क्या जानता है? उत्तरार्ध श्लोक में बतायेंगे। **य: असौ सत्यम् ब्रह्म एव वेत्ति** ऐसा जो अपने को अहंकार न माननेवाला है वह निश्चय ही ब्रह्म को ही जानने वाला है। **न अस्ति इति**--यह प्रपंच जगत् वास्तव में सत्य नहीं है, इस प्रकार जो जानता है, वह ब्रह्म को ही जानता है। जो अपने को अनुभव से जीव नहीं मानता और इस जगत् को सत्य नहीं मानता वह निश्चय ही ब्रह्मवेत्ता है।

अब अन्वय से समझाते हैं **'अहम् अस्मि' इति**-- मैं ब्रह्म हूँ, जीवात्मा नहीं हूँ, इस प्रकार **विजानन्**--जाननेवाला **ब्रह्म एव असौ**--स्वयं ब्रह्म ही है 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति मुंडक श्रुति।३।२।९ ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही है। क्यों ब्रह्म है? **स्वयम् विजानाति**--क्योंकि वह स्वयं, अपने आपे को, निजरूप को यथार्थरूप से जानता है। यहाँ वचनों की निपुणता देखिये 'नाहमिति' जानने-वाला भी ब्रह्म है, और 'अहमस्मीति' जाननेवाला भी ब्रह्म है। विरोधी से वचन होने पर भी तात्पर्य में एकता है। पहले 'अहम्' का अर्थ अहंकार अर्थात् मिथ्यात्मा है और दूसरे 'अहम्' का अर्थ ब्रह्म, मुख्यात्मा है।

प्रथमार्ध श्लोक का दूसरे प्रकार से भी अर्थ कर सकते हैं। 'नाहं इति य: सत्यं वेत्ति असौ ब्रह्मैव नास्ति इति वेत्ति' इति अन्वय:--'मैं नहीं हूँ,' इस प्रकार जो निश्चयपूर्वक जानता है वह 'ब्रह्म भी नहीं है' इस प्रकार जानता है। अपनी सत्ता की अस्वीकृति ब्रह्म की ही सत्ता की

अस्वीकृति है। यह अत्यन्त मूढ़ पक्ष है। 'मैं नहीं हूँ' यह कहना 'मेरे मुख में जीभ नहीं है' इस प्रकार बोलने के सदृश है ।।५।।

ब्रह्म त्वमेव तस्मान्नाहं ब्रह्मेति मोहमात्रमिदम्।
मोहेन भवति भेदः क्लेशाः सर्वे भवन्ति तन्मूलाः ॥६॥

अर्थ––इसलिये हे शिष्य! तू ही ब्रह्म है। शिष्य कहता है–– हे गुरो! मैं ब्रह्म नहीं हूँ। गुरु कहता है—यह तेरा अज्ञानमात्र है। अज्ञान से भेद होता है, और भेद ही सर्व क्लेशों का मूल कारण है।

व्याख्या––श्रीगुरु कहते हैं–**ब्रह्म त्वम् एव तस्मात्**––अतः ब्रह्म तू ही है, कैसे? क्योंकि तेरी सत्ता है और तू चेतन है। शिष्य कहता है– **न अहम् ब्रह्म इति**––हे श्रीगुरो! मैं ब्रह्म नहीं हूँ, मैं तो अमुक नाम का ब्राह्मण हूँ। इस उत्तर को सुन कर श्रीगुरु कहते हैं **मोहमात्रम् इदम्**––हे शिष्य! जो तू अपने का जीव जानता है यह तेरा अज्ञानमात्र है, वास्तव में तू 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ही है। मोह का फल सुनो **मोहेन भवति भेदः**:––अज्ञान से भेद, नानात्व, द्वैत होता है। संसार ब्रह्म से भिन्न सत्य भासता है, नाना जीव भासते हैं और क्या होता है? **क्लेशाः सर्वे भवन्ति तन्मूलाः**––पाँचों क्लेशों का मूल 'भेद' ही है। ब्रह्म में नानात्वदर्शन सर्व अनर्थों का कारण है। पंचक्लेशों के बारे में अगले श्लोक में बतायेंगे ।।६।।

पंचकोश-विवेकः

न क्लेशपञ्चकमिदं भजते कृतकोशपञ्चकविवेकः।
अत एव पञ्चकोशान् कुशलधियः संततं विचिन्वन्ति ॥७॥

अर्थ––जिसने पंचकोशों का विवेक कर लिया है, वह इस क्लेशपंचक का सेवन नहीं करता। इसलिये चतुर मुमुक्षु सदा पंच कोशों के विवेक का चिन्तन करते हैं।

व्याख्या—न क्लेशपञ्चकम् इदम् भजते—इस क्लेशपंचक को नहीं सेवन करते, क्लेश नहीं पाते, पाँचक्लेश कौन से हैं ? 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः' पातंजलयोग सूत्र २।३, अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष तथा मरणभय—ये पाँच क्लेश हैं। पिछले चारों क्लेशों का कारण अविद्या है। पंचकोशविवेक अविद्या का नाशक है। कौन क्लेश नहीं पाता ? **कृत-कोशपञ्चक-विवेकः**—वह पुरुष क्लेश नहीं पाता जिस ने पंचकोशों का विवेक कर लिया है अर्थात् जिसने पंचकोशों को 'नेति-नेति' वेदवाक्य की सहायता से अनात्म जान लिया है। पंचकोश आत्मा नहीं हैं, आत्मा इनसे विलक्षण, इनका साक्षी तथा इनका अधिष्ठान और प्रकाशक है। पंचकोश विवेक से जिसने आत्मा अनात्मा का भेद जान लिया है, वह। इन पंचकोशों के नाम तथा इनके निराकरण की विधि अगले पाँच श्लोकों में इसी ग्रंथ में भगवान भाष्यकार ने बताई है। अब उपसंहाररूप से कर्तव्यता बताते हैं। **अत एव पञ्चकोशान् कुशलधियः संततम् विचन्वन्ति**—इसलिये जो चतुर, सूक्ष्मबुद्धिवाले मुमुक्षु हैं, सत् और असत् के भेद ज्ञान के सामर्थ्य से परिचित हैं, वे पंचकोशों का संतत-निरन्तर विवेचन करते हैं अर्थात् जब तक आत्मा अनात्मा के भेद का ज्ञान दृढ़ न हो जाये, तब तक। प्रत्येक कोश के निषेध की युक्ति भगवान् भाष्यकार आगे बतायेंगे।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान के बहिरंग साधनों में 'विवेक' प्रथम और मुख्य साधन है। इसी में से अन्य साधनसंतति वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता—निकलती है। आत्मा तथा अनात्मवस्तु (पंचकोश) के भेद को निश्चय और दृढ़ता से जानने का नाम विवेक है। आत्मा सत्- चित् तथा आनन्दरूप है। इसके विपरीत अनात्मा असत्, जड़ तथा दुःखरूप है। इस भेदज्ञान का नाम विवेक है। इसके दृढ़ होने पर वैराग्य स्वतः उदय होता है। कैसे ? विवेक द्वारा संसार को जो असत् जानता है वह मिथ्याभूत सांसारिक विषयों में कैसे रुचिवान हो सकता है। यदि इस लोक अथवा परलोक के भोगों में उसकी आसक्ति है तो समझ लेना कि

उसका विवेक कच्चा है। जिसका वैराग्य पक्का हो, उसका मन विषयों में क्यों रमण करेगा, यदि करता है, तो वैराग्य पक्का नहीं, यदि वैराग्य कच्चा है तो अवश्यंभावी विवेक अदृढ़ है। विवेक की भित्ती पर ज्ञान के साधन आधारित हैं। यदि मन विषयों में न जायगा तो इन्द्रियाँ स्वतः नियन्त्रित रहेंगी। इसी परम्परा में उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुता को समझना। जिसने पंचकोश विवेक किया है, वह द्वैत के क्लेश से निवृत्त रहेगा। पंचकोश विवेक का इतना महान फल है ॥७॥

अन्न-प्राण-मनोमय-विज्ञानानन्द—पञ्चकोशानाम् ।
एकैकान्तरभाजां भजति विवेकात् प्रकाशतामात्मा ॥८॥

अर्थ—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—ये पाँचकोश एक दूसरे के भीतर हैं। इनके विवेक से आत्मा प्रकाश में आ जाता है।

व्याख्या—अन्न-प्राण-मनोमय-विज्ञान-आनन्दपंचकोशानाम्—पहले पंचकोशों के नाम बताते हैं। १—अन्नमयकोश, २—प्राणमय कोश, ३—मनोमयकोश, ४—विज्ञानमय कोश, तथा ५—आनन्दमय कोश। कोश गलेफ (cover, sheath) को कहते हैं, जैसे तलवार का कोश म्यान होता है। यह आत्मा पाँचकोशों के भीतर छुपा हुआ है, जैसे सरकंडे के छिलके तोड़कर भीतर से तुली निकालते हैं वैसे ही एक-एक कोश के निराकरण के उपरान्त सर्वान्तर प्रत्यगात्मा अवशेष रहता है। आत्मानुसंधान की यही प्रणाली है।

अन्नमयादि पंचकोशों के नाम बताकर अब उनके स्थान बताते हैं **एक-एक-अन्तरभाजाम्**— एक कोश दूसरे कोश के भीतर निवास करता है। क्या कोशों की कोई सीमा है? नहीं। अन्नमय कोश के भीतर प्राणमयकोश है, प्राणमय के भीतर मनोमयकोश है, उसके भीतर विज्ञानमयकोश है, और

विज्ञानमयकोश के भीतर आनन्दमयकोश है। स्थूलदेह को अन्नमयकोश कहते हैं। जितने स्थान में स्थूल देह है उतने में ही प्राणमय कोश उसी आकार का है, इसी प्रकार अन्य कोशों को भी समझना। सीमा सब की एक ही है। तो एक के भीतर दूसरा क्यों कहा? भीतर का अर्थ यहाँ सूक्ष्म समझना। अन्नमयकोश से सूक्ष्म प्राणमय कोश है, प्राणमय से सूक्ष्म मनोमय कोश है, ऐसे ही अन्य कोश समझना। आनन्दमयकोश पंचकोशों में सब से सूक्ष्म है **विवेकात्**——इन कोशों के विवेक से अर्थात् निराकरण से——

अब फल बताते हैं **आत्मा प्रकाशताम् भजति**——आत्मतत्त्व प्रकाश में आ जाता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोश आत्मा नहीं हैं। तो आत्मा क्या है? इन कोशों के निषेध के उपरान्त जो अधिष्ठानरूप सर्वान्तर तत्त्व, सर्व का प्रकाशक, सर्व का साक्षी अवशेष रहता है, वही प्रत्यगात्मा, सर्वान्तर आत्मा है। पंचकोश विवेक से आत्मा के दर्शन होते हैं। पहले भी कहा है, 'न क्लेशपञ्चकमिदं भजते कृतकोश-पञ्चकविवेकः। पंचकोश के विवेक से अविद्यादि पंच क्लेशों से पीड़ित नहीं होता, क्यों? विवेक से ज्ञानोदय होता है, ज्ञान अविद्या का तथा उसके कार्य अवशेष चारों क्लेशों का नाश कर देता है ।।८।।

पंचकोशों का सामान्य परिचय देकर, अब विशेष निरूपण करते हैं। पहले अन्नमयकोश का निराकरण करते हैं।

वपुरिदमन्नमयाख्यः कोशो नात्मा जडो घटप्रायः ।
प्रागुत्पत्तेः पश्चात्तदभावदृश्यापि दृश्यमानत्वात् ॥९॥

अर्थ——यह स्थूल शरीर अन्नमय कोश कहलाता है। यह आत्मा नहीं है। घट की भांति जड़ है। उत्पत्ति से पहले और मृत्यु के पश्चात् इस का अभाव हो जाता है, और यह इन्द्रियों से ग्राह्य है।

व्याख्या——वपुः इदम् अन्नमयाख्यः कोशः न आत्मा——श्लोक के

प्रथम अर्धभाग में ही निर्णय करते हैं। माता-पिता से भुक्तपीत अन्नजल से उत्पन्न रजवीर्य के मेल से पैदा यह प्रत्यक्ष स्थूल देह जिस का नाम अन्नमय कोश है, आत्मा नहीं है। सर्वव्यवहार का आश्रय सर्वस्थूल भोगों का स्थल, जाग्रदवस्था में अभिव्यक्त यह स्थूल शरीर आत्मा नहीं है। अब इसके कारण बताते हैं।

जडः घटप्रायः——यह स्थूल देह मिट्टी के घट के सदृश जड़, अचेतन परप्रकाश्य है, इसके विपरीत आत्मा चेतन, बोधरूप है 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्वेताश्वतर श्रुति ६।११। आत्मा साक्षी, चेतन, एकतत्त्व निर्गुणरूप है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तैत्तिरीयोपनिषद २।१। ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है। शरीर के आत्मा न होने का दूसरा कारण बताते हैं **प्राक् उत्पत्तेः पश्चात् अपि तत् अभावस्य**——माता के गर्भ से उत्पन्न होने से पहले स्थूलदेह का अभाव होता है तथा मरण के पश्चात् भी इस देह का अभाव हो जाता है। जिसका आदि और अन्त में अभाव हो, और मध्य में अभिव्यक्ति हो वह मिथ्या होता है। इसमें भगवद्गीता का प्रमाण है, 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।' गीता २।२८। भूतों का आदि अव्यक्त है, मध्य में व्यक्तता है, मरने पर भी अव्यक्त है। ऐसे मिथ्याभूत भूतों के लिये क्या रोना पीटना। असत् वस्तु की सत्ता नहीं होती है और सत् वस्तु का तीनकाल में भी अभाव नहीं होता, यह सिद्धान्त है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' गीता २।२६।

इस स्थूलदेह का उत्पत्ति से पूर्व और मृत्यु के उपरान्त अभाव होता है, अतः यह सत् आत्मा नहीं हो सकता अब अन्य भी कारण बताते हैं **दृश्यमानत्वात्**——यह स्थूलदेह केवल मध्यावस्था में ही अर्थात् जन्म और मृत्यु के मध्य में ही दिखाई पड़ता है। जो वस्तु इन्द्रियों और मन से ग्राह्य हो वह माया रचित और मिथ्या होती है। इस शरीर का नेत्र, कान, रसनादि इन्द्रियां विषय करती हैं, मन इसका चिन्तन कर सकता है, 'मेरा शरीर स्थूल है, कृश है, युवा है, वृद्ध है'

इत्यादि विविध प्रकार से मन इसका ध्यान करता है। परन्तु आत्मा मन वाणी से ग्राह्य नहीं है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति तैत्तिरीयोपनिषद २।४ वाणी तथा मन इस आत्मा का विना विषय किये ही लौट आते हैं। आत्मा मन वाणी से अग्राह्य है, परन्तु शरीर ग्राह्य है अतः यह आत्मा नहीं हो सकता ।।६।।

अन्नमय कोश को अनात्मा बता कर अगले श्लोक में प्राणमय कोश का भी निराकरण करते हैं।

कोशः प्राणमयोऽयं वायुविशेषो वपुष्यवच्छिन्नः।
अस्य कथमात्मता स्यात्क्षुत्तृष्णाभ्यामुपेयुषः पीडाम् ॥१०॥

अर्थ––यह प्राणमय कोश विशेष वायु है। शरीर में यह सीमित रहता है, भूख और प्यास से पीड़ा प्राप्त करता है। इसकी आत्मता कैसे हो सकती है?

व्याख्या––**कोशः प्रमाणमयः अयम्**––यह प्राणमय कोश, प्राण-प्रधान होने से प्राणमय कोश कहलाता है, पंच प्राण––प्राण, अपान, व्यान, उदान व समान तथा पंच कर्मेन्द्रिय––जिह्वा, हाथ, पैर, उपस्थ (जननेन्द्रिय-लिंग, योनि) और गुदा मिल कर प्राणमय कोश वनाते हैं। इस का स्वरूप वताते हैं **वायुविशेषः**––प्राणमय कोश है तो वायु परन्तु विशेष वायु है। वाहर के वातावरण का वायु स्थूल अर्थात् पंचीकृत महाभूत है। इस के कलेवर में दो-दो आना सूक्ष्म आकाश, अग्नि, जल और पृथ्वी है और आठ आना सूक्ष्म वायु है। इनके पंचीकरण से स्थूल वायु वनता है, परन्तु पंच प्राण अपंचीकृत सूक्ष्म महाभूतों के रजोगुण अंश से निर्मित है, अतः यह विशेष वायु है।

वृत्तिभेद से एक ही प्राण पांच प्रकार से विभक्त है। प्राण स्वभाव से ही चञ्चल होता है, वायु को 'सदागति' भी कहते हैं, परन्तु आत्मा अचल, मेरु के सदृश अप्रकम्प्य है, 'अचलोऽयं सनातनः' इति गीता २।२४, आत्मा अचल और सदा वर्तमान रहने वाला है, इसलिये

प्राणमय कोश आत्मा नहीं हो सकता। दूसरा भी कारण बताते हैं **वपुषि अवच्छिन्नः**—प्राणमय कोश स्थूलशरीर में ही सीमित है। यह अन्नमय कोश को पूर्ण भर कर रहता है, प्राणमय कोश शरीर में व्याप्त है, इससे आगे नहीं, परन्तु आत्मा देशकालवस्तु-परिच्छेद रहित अनन्त है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुति। ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है। आत्मा और ब्रह्म एक ही तत्त्व है। इसलिये प्राणमय कोश आत्मा नहीं हो सकता।

अब निर्णय करते हैं **अस्य कथम् आत्मता स्यात्**—प्राणमय कोश चञ्चल, पांच भेदों में विभक्त, वायुविशेष, क्रियाशक्तियुक्त और सीमित होने से कैसे अचल, निरवयव, अनन्त आत्मा हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इसका एक अन्य कारण भी बताते हैं **क्षुत्-तृष्णाभ्याम् पीडाम् उपेयुषः**—भूख और प्यास से पीड़ा प्राप्त होनेवाले प्राण की आत्मता कैसे हो सकती है? भूख और प्यास प्राण के धर्म हैं। 'अशनायापिपासे प्राणस्य' इति श्रुतिः। अन्न जल न मिलने से प्राण क्षीण हो जाते हैं। इसके विपरीत आत्मा सब धर्मों से रहित है, और सदा आनन्द-रूप है, उसमें पीड़ा की गंध भी नहीं, 'आनन्दो ब्रह्म' इति तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।६ ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ॥१०॥

कुरुते वपुष्यहंतां गेहादौ यः करोति ममतां च।
रागद्वेषविधेयो नासावात्मा मनोमयः कोशः ॥११॥

अर्थ—यह मनोमय कोश आत्मा नहीं है। यह देह में अहंकार करता है, और गृहादि में ममता करता है। यह रागद्वेष का विधान करता है।

व्याख्या—प्राणमय कोश का निराकरण करके अब मनोमय कोश का निराकरण करते हैं। यह पंचकोश विवेक चल रहा है। **कुरुते वपुषि अहंताम्**—देह में अहंकार करता है, 'मैं मनोहरलाल शर्मा

हूँ' अपने को देह मानता है, मनोमय कोश और क्या करता है ? **गेह-आदौ यः करोति ममताम् च**——देह की उपयोगी वस्तु घर आदि पद से दारा, पुत्र, धनादि वस्तुओं में जो ममता करता है, 'यह मेरा घर है, यह मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र, मेरा धन, व्यापार है' इत्यादि । मनोमय कोश की और विशेषता बताते हैं–**रागद्वेषविधेयः**——जो राग द्वेष का विधान करता है अर्थात् अपने अनुकूल वस्तु में, मित्र बंधु आदि में राग——आसक्ति रखता है, शत्रु चोर सिंहादि प्रतिकूल वस्तु से द्वेष करता है । अब निष्कर्ष देते हैं **न असौ मनोमयः कोशः आत्मा**——यह मनोमय कोश आत्मा नहीं है ।

मन और पंच ज्ञानेन्द्रियां मिल कर मनोमयकोश बनाते हैं । 'ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात् कोशो ममाहमिति वस्तु विकल्पहेतुः ।' विवेकचूडामणि ।१६९। पंच ज्ञानेन्द्रियां——कर्ण, त्वक्, चक्षुः रसना तथा घ्राण (नासिका)——तथा अन्तःकरण की संकल्प-विकल्प करनेवाली वृत्ति मन, मनोमय कोश बनाते हैं । यह मेरा है, यह दूसरे का है, यह मैं हूँ, ये तू है इत्यादि वस्तुओं में नाना नामरूप भेद का हेतु है । मनोमय कोश भी आत्मा नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा असंग साक्षी है 'असंगो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः । आत्मा न देह में अहंकार करता है, न देहोपयोगी वस्तुओं में ममता करता है, न उसमें राग है न द्वेष, 'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इति गीता ९।२९। मैं आत्मा सब प्राणियों में समभाव से वर्तमान रहता हूँ, न मुझे कोई प्यारा है न मेरा किसी से द्वेष है । न आत्मा में संज्ञा आकार का भेद है, 'नेह नानास्ति किंचन' इति कठश्रुति २।१।११ ब्रह्म में नानापन का भेद नहीं है । ऐसे उदार धर्मों वाला चैतन्यात्मा भला भेदकुशल मनोमय कोश कैसे हो सकता है । इस कोश में मन की प्रधानता होने से इस का नाम मनोमय कोश है । इच्छाशक्ति इसकी विशेषता है । यह कोश प्राणमय कोश को पूर्ण करता है अर्थात् प्राणमय कोश से अधिक सूक्ष्म है ।।११।।

सुप्तौ स्वयं विलीना बोधे व्याप्ता कलेवरं सकलम् ।
विज्ञानशब्दवाच्या चित्प्रतिबिम्बो न बुद्धिरप्यात्मा ॥१२॥

अर्थ––विज्ञान शब्द से कहा जानेवाला बुद्धिप्रधान विज्ञानमय कोश भी जो कि चेतन का प्रतिबिम्बमात्र है, आत्मा नहीं है, क्योंकि बुद्धि सुषुप्ति में स्वयं विलीन हो जाती है, और जागने पर सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है।

व्याख्या––मनोमय कोश का आत्मा होना निषेध करके अब विज्ञानमय कोश का निराकरण करते हैं। विज्ञानमय कोश बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों से मिल कर बनता है। इस के अनात्म होने का कारण बताते हैं **सुप्तौ स्वयम् विलीना**––बुद्धिप्रधान होने से इस कोश को विज्ञानमय कोश कहते हैं। जीवात्मा भी इसी को कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में, गाढ़ी नींद में बुद्धि अपने कारण अविद्या में डूब जाती है, बीजरूप से अवस्थान करती है, कोई कार्य नहीं कर सकती, क्योंकि अपने कारण अविद्या में लय होने से इसका अभाव हो जाता है। जिसका अभाव हो जाये वह त्रिकालाबाध्य सत् आत्मा नहीं हो सकता। सुषुप्ति टूटने पर क्या होता है? **बोधे व्याप्ता कलेवरम् सकलम्**–– सारे शरीर में व्याप्त हो जाती है, अर्थात् मनोमय कोश को पूर्ण करती है। परन्तु शरीरकी सीमा को छोड़ कर बाहर नहीं टिक सकती, इसलिये परिच्छिन्न (Limited) है। इसके विपरीत आत्मा आदि-अन्तहीन सर्वव्यापी पूर्ण है, अतः यह कोश आत्मा नहीं हो सकता।

विज्ञानशब्द-वाच्या––विज्ञान शब्द से यानी विज्ञानमय कोश नाम से कही जाती है, क्योंकि ज्ञान और कर्तृत्व इसके विशेष लक्षण हैं। परमात्मा के सान्निध्य में होने से विज्ञानमय कोश अति प्रकाशमान है, क्यों? **चित्प्रतिबिम्बः**––बुद्धि पांच सूक्ष्म महाभूतों के सत्त्वांश से निर्मित है, अतः स्वच्छ है, और परमात्मा के प्रकाश को ग्रहण करती है, और उसके प्रतिबिम्ब से समस्त कलेवर को विशेष प्रकाशमान

करती है। सूर्य का प्रकाश सब वस्तुओं पर सामान्यरूप से पड़ता है, परन्तु दर्पण स्वच्छ (highly polished) होने से सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करके स्वयं प्रकाशित होता है, और उसका प्रतिबिम्ब अन्य अन्धकारमय वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। प्रयोजन यह है कि बुद्धि स्वयंप्रकाश नहीं है, परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित होती है, अतः वह स्वयंप्रकाश आत्मा नहीं होसकती **न बुद्धिः अपि आत्मा**—सुषुप्ति में लीन होनेवाली, परिच्छन्न, पर-प्रकाश्य बुद्धि यानी बुद्धि-प्रधान विज्ञानमय कोश भी, अन्नमय प्राणमय तथा मनोमय कोश की भाँति आत्मा नहीं हो सकता ।।१२।।

सुप्तिगतैः सुखलेशै-रभिमनुते यः सुखी भवामीति ।
आनन्दकोशनामा सोऽहंकारः कथं भवेदात्मा ॥१३॥

अर्थ—सुषुप्ति में जाने पर अज्ञानाच्छादित सुख लेशों में जो अभिमान करता है कि मैं सुखी हूँ, वह अहंकार-प्रधान आनन्दमयकोश कहलाता है। वह कोश किस प्रकार आत्मा हो सकता है।

व्याख्या—अब पांचवें कोश, आनन्दमय कोश, का भी निराकरण करते हैं। **सुप्तिगतैः सुखलेशैः**—सुषुप्ति अवस्था में जाने पर जो किंचित् सुख की अनुभूति होती है। 'लेश' इसलिये कहा है कि सुषुप्ति का सुख शुद्ध सुख नहीं हैं। वह अज्ञान से आवृत रहता है। **यः अभिमनुते**—उनकी प्राप्ति में नींद से जागने पर, जो अभिमान करता है, क्या अभिमान करता है ? **सुखी भवामि इति**—मैं बहुत सुख से सोया, कुछ खबर नहीं थी **आनन्दकोशनामा**—उसे आनन्दमय कोश नाम से कहते हैं **सः अहंकारः**—वह अहंकार प्रधान है, **कथम् भवेत् आत्मा**—वह किस प्रकार आत्मा हो सकता है ?

अत्र हेतु, मोहित हुआ आत्मा अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्याभास में अहंकार करता है, अर्थात् आनन्दमय कोश को आत्मा जानता है। वह मुख्यआत्मा नहीं हो सकता। आनन्दमयकोश अज्ञानाच्छादित

आनन्द को कहते हैं। सुषुप्ति इसकी अभिव्यक्ति की असाधारणी अवस्था है। परन्तु आत्मा अज्ञान से लिपायमान नहीं होता, वह माया के गुणों से अतीत है, माया उसको स्पर्श नहीं कर सकती। सुषुप्ति अवस्था में बुद्धिवृत्ति लीन हो जाती है, तो अज्ञान और आनन्द का कौन अनुभव करता है? अज्ञान की सूक्ष्य वृत्तियाँ अज्ञानाच्छादित आनन्द का अनुभव करती हैं। उस अनुभव को जागने पर जीव-व्यक्त करता है। आनन्दमय कोश विज्ञानमय कोश को पूर्ण करता है, और सब से सूक्ष्म आवरक है। आनन्दमय कोश के भीतर क्या है? अगले श्लोक में बताते हैं। वह आत्मा है।१३।।

आत्म-तत्त्व

यः स्फुरति बिम्बभूतः स भवेदानन्द एव सकलात्मा।
प्रागूर्ध्वमपि च सत्त्वादविकारित्वादबाध्यमानत्वात् ॥१४॥

अर्थ—जो बिम्बभूत आनन्द प्रकाशित होता है, वही सब कोशों का आत्मा है। वह सृष्टि से पूर्व तथा पश्चात् भी रहता है क्योंकि वह सत्तामात्र है, अविकारी है और त्रिकालाबाध्य है।

व्याख्या—आपने पंच कोशों का तो निराकरण कर दिया परन्तु आत्मा का स्वरूप नहीं वताया। पंचकोशों के निराकरण के पश्चात् तो शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता। अब तटस्थ होकर आत्मा का स्वरूप वताते हैं। **यः स्फुरति बिम्बभूतः**—जो आत्मा बिम्ब-रूप से स्फुरण करता है, प्रकाशता है, कहाँ प्रतिफलित होता है? वुद्धिवृत्ति में। जिस विम्व के प्रकाश से बुद्धि प्रकाशित होती है, जिस के प्रतिविम्व से अन्य कोश विशेषरूप से प्रकाशित होते हैं, जो अज्ञानवृत्तियों में पड़ कर, प्रतिबिम्बित होकर आनन्दमय कोश कहलाता है **सः भवेत् आनन्दः एव**—वह विम्वब्रह्म ही मूल आनन्द लक्षण वाला है, 'एव' कहने से आनन्दमय कोश का निवारण किया है। 'आनन्दो ब्रह्म' इति श्रुतिः। ब्रह्म आनन्द है।

सकल-आत्मा—वह सकल अर्थात् सब कोशों का आत्मा, अधिष्ठान, सर्वान्तर, कूटस्थ साक्षी प्रत्यगात्मा है। वह क्यों सकलात्मा है, बताते हैं **प्राक् ऊर्ध्वम् अपि च**—वह सृष्टि से पहले आदि, और अन्त यानी महाप्रलय के पश्चात् भी तथा चकार से मध्य में भी ; भूत, भविष्यत् और वर्तमान; जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति में भी सकलात्मा है, क्यों? **सत्त्वात् अविकारित्वात् अबाध्यमानत्वात्**— अपनी सत्ता के कारण। तीनों काल, तीनों अवस्थाओं में उसकी सत्ता ज्यों की त्यों रहती है, क्यों? अविकारी होने से, माया के षड्भाव-विकार उस पर प्रभाव नहीं डाल सकते, अर्थात् वह न उत्पन्न होता है, न वढ़ता है, न बदलता है, न घटता है और न ही नष्ट होता है, अतः उसकी सत्ता अबाध्य है।

वह आत्मा जाग्रत् में रहता है, स्वप्न में भी रहता है, सुषुप्ति अवस्था में भी रहता है और समाधि में भी। ये सब अवस्थाएँ बुद्धि की हैं, आत्मा की नहीं। स्वप्नावस्था में जाग्रत् का निवारण हो जाता है, सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न का निवारण हो जाता है, जाग्रत् में स्वप्न और सुषुप्ति नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का बाध हो जाता है, परन्तु आत्मा का बाध नहीं होता। वह अविकारी है। वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि को साक्षीरूप से जानता है ।।१४।।

✓ **अन्नमयादेरस्मादपरं यदि नानुभूयते किंचित्।**
अनुभविताऽन्नमयादेरस्तीत्यस्मिन् न कश्चिदपलापः ॥१५॥

अर्थ—इस अन्नमयादि कोश से अन्य तो कुछ भी अनुभव नहीं किया जाता (यदि इस प्रकार कोई कहे तो हमारा कहना है) अन्नमयादि कोशों का अनुभव करनेवाला रहता है। इस प्रकार कहने में कोई अनर्गलता नहीं है।

व्याख्या—अन्नमयादेः अस्मात् अपरम्—अन्नमयादि इस कोश-पञ्चक से अन्य **यदि न अनुभूयते किंचित्**—यदि कुछ भी अनुभव

के लिये नहीं रहे, अर्थात् यदि तुम यह कहो कि पंचकोश के निषेध के उपरान्त अनुभव करने के लिये कुछ अवशेष नहीं रहता है, तो हमारा कहना है, क्या ? **अनुभविता अन्नमयादेः अस्ति इति**––अन्नमयादि कोशपञ्चक का अनुभव करनेवाला तो रहता ही है, अर्थात् पंचकोशों को जाननेवाला, उनका साक्षी रहता है **अस्मिन् न कश्चित् अपलापः**– हमने जो साक्षी के अस्तित्व की युक्ति दी है वह कोई निरर्थक वार्ता नहीं है। साक्षी सदा चेतन ही हुआ करता है, जड़ पाषाणादि साक्षी नहीं हो सकते, यह सिद्धान्त है। साक्षी सदा साक्ष्यवस्तु से भिन्न ही होता है और साक्ष्य के धर्मों से असंबद्ध रहता है। अन्नमयादि कोशों का कोई साक्षी भी तो चाहिये। इनके बाध होने पर जब बाध करने के लिये कोई वस्तु नहीं रहती है, तो चैतन्य साक्षी रहता है, 'अबाध्यमानत्वात्' क्योंकि वह बाध नहीं होता, अतः जो चैतन्य साक्षी रहता है, वही सर्वान्तर प्रत्यक् (भीतर का) आत्मा है ॥१५॥

स्वयमेवानुभवत्वाद्यद्यप्येतस्य नानुभाव्यत्वम् ।
सकृदप्यभावशंका न भवेद् बोधस्वरूपसत्तायाः ॥१६॥

अर्थ––यह आत्मा अपने आप अनुभव करता है। यद्यपि इसका अनुभव करनेवाला कोई नहीं है तो भी ज्ञानस्वरूप आत्मा की सत्ता के अभाव की आशंका एक बार भी नहीं करनी चाहिये।

व्याख्या––इस शंका को दृष्टि में रख कर कि पांचों कोशों के निषेध के पीछे जो अनुभविता रहता है, उसका कौन साक्षी है, कहते हैं **स्वयम् एव अनुभवत्वात्**––वह आत्मा अपने आप ही अनुभव करता है अर्थात् वह स्वयं साक्षी है यानी सब से अन्तिम साक्षी है, उसका साक्षी कोई नहीं, मां तु वेद न कश्चन' इति गीता ८।२६। मुझ आत्मा को मुझ से भिन्न कोई नहीं जानता, जो भी कोई उसे जानेगा वह वही बन कर जानेगा, स्वयंसाक्षी होने से **यद्यपि एतस्य न अनुभाव्यत्वम्**–– यद्यपि इसका अन्यद्वारा अनुभव संभव नहीं। इस आत्मा से भिन्न इसका अनुभव करनेवाला कोई नहीं, तो भी **सकृत् अपि अभाव-शंका**

न भवेत्––एक बार भी अर्थात् त्रिकाल में भी अभाव की शंका नहीं बनती, किस के अभाव की ? **बोधस्वरूप-सत्तायाः**––चैतन्य साक्षी की सत्ता के अभाव की शंका नहीं बन सकती। तात्पर्य यह है कि पंचकोश विवेचन के पश्चात् जो अवशेष रहता है, वह चेतनात्मा है और उसकी सत्ता त्रिकालाबाध्य है। उसकी सत्ता के अभाव की संभावना उपयुक्त नहीं। वह अवश्यंभावी चेतन, बोधरूप, ज्ञान-रूप है। यदि वह ऐसा न हो तो पंचकोशविवेक को कैसे जानेगा। वह अवश्यंभावी अविकारी है, अतः त्रिकालाबाध्य सत्तावाला है। यदि वह ऐसा न हो तो किसी भी कोश के साथ उसका भी निराकरण हो सकता है, परन्तु वास्तव में नहीं होता। शुद्धज्ञान की सत्ता का, अर्थात् स्वयं अनुभव की सत्ता का बाध नहीं होता ॥१६॥

अनुभवति विश्वमात्मा विश्वेनासौ न चानुभूयेत ।
न खलु प्रकाश्यतेऽसौ विश्वमशेषं प्रकाशयन्भानुः ॥१७॥

अर्थ––आत्मा समस्त विश्व को जानता है, परन्तु विश्व से इस का अनुभव नहीं किया जा सकता, आत्मा किसी अन्य प्रमाण से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। आत्मा समस्त विश्व को सूर्य के सदृश प्रकाशित करता है।

व्याख्या––अनुभवति विश्वम् आत्मा––यह आत्मा मन इन्द्रियों के माध्यम से समस्त विश्व को साक्षीरूप से जानता है। किस प्रकार ? अहंकार से लेकर स्थूलपर्यन्त संसार की अनुभूति के छः मार्ग हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन। इनके माध्यम से जानता है **विश्वेन असौ च न अनुभूयेत**––यह आत्मा विश्व से अर्थात् मन और इन्द्रियों से, चकार का अर्थ है किसी काल, अवस्था में भी अनुभव नहीं किया जाता, क्यों ? क्योंकि आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है स्थूल-दृष्टि से यह ग्रहण नहीं जा सकता। 'अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वम् न स्थूलदृष्टया प्रतिपत्तुमर्हति।' इति विवेकचूडामणिः।३६१। आत्मा स्वयं साक्षी है, उसका साक्षी उससे भिन्न कोई नहीं है। मन

बुद्धि इन्द्रियाँ सर्व जड़ हैं। जड़ किसी का अनुभव नहीं कर सकता। शंका––यह सर्व का अनुभव है कि आँख देखती है, कर्ण सुनता है, मन चिन्तन करता है, फिर आप इन को जड़ कैसे कहते हैं? नेत्रादि इन्द्रियगण आत्मा के प्रकाश से ही चेतन से होकर स्व-व्यापार में नियुक्त होते हैं। ये पर-प्रकाश्य हैं, स्वयंप्रकाश नहीं हैं। आत्मा स्वयं-ज्योति है, अतः अपने को आप ही जानता है **न खलु प्रकाश्यते असौ**–– निश्चय ही आत्मा किसी अन्य प्रमाण से प्रकाशित नहीं होता। यह मन बुद्धि इन्द्रियों से अनुभव में नहीं लाया जा सकता, क्यों? यह स्वयं अनुभविता है। अब दृष्टान्त से समझाते हैं। **विश्वम् अशेषम् प्रकाशयन् भानुः** जैसे सूर्य समस्त विश्व को प्रकाशित करता हुआ भी विश्व से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। विश्व अंधकारमय है। कोई भी बुद्धिमान सूर्य को सिद्ध करने के लिये दीपक नहीं दिखाता। ॥१७॥

तदिदं तादृशमेतावत्तावदिति च यन्न भवेत्।
ब्रह्म तदित्यवधेयं नो चेद् विषयो भवेत्परोक्षं च ॥१८॥

अर्थ––'वह' 'यह' 'उस जैसा' 'इतना' 'उतना' इस प्रकार के भेद ब्रह्म में नहीं होते। वह ब्रह्म अलिंगी है, ऐसा समझना। अन्यथा दो दोष आयेंगे, वह इन्द्रियों का विषय हो जायेगा, और निज-रूप से परोक्ष यानी भिन्न हो जायेगा।

व्याख्या––पिछले तीन श्लोकों में आत्मा को अनुभविता, स्वसं-वेद्य, साक्षी, स्वयंप्रकाश बताया है। अब ब्रह्म के स्वरूप को बताते हैं। वेदान्त शास्त्र में आत्मा और ब्रह्म पर्यायवाचक शब्द हैं। पहले बताते हैं कि ब्रह्म का कोई लक्षण नहीं। **तत्** शब्द परोक्ष वाचक है। ब्रह्म को 'वह' शब्द से नहीं कह सकते, और न ही **इदम्**–– इदम् शब्द अपरोक्ष वाचक है, 'यह' शब्द से कह सकते हैं **तादृशम्**–– 'उस जैसा' शब्द से भी ब्रह्म को लक्षित नहीं कर सकते क्योंकि ब्रह्म की उपमा नहीं है, अद्वितीय होने से, 'न तत्समः' उसके समान

अन्य कोई नहीं। **एतावत् तावत् इति च**--ब्रह्म को 'इतना' 'उतना' भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह सर्वसीमा-रहित अनन्त है 'चकार' से अन्य किसी प्रकार के भेददर्शक प्रत्यय भी ब्रह्म के स्वरूप को नहीं बता सकते।

यत् न भवेत् --वह, यह, वैसा, ऐसा, इतना, उतना विभिन्न भेदपरक शब्द जिसके स्वरूप का वर्णन न कर सकें, ऐसा जो सर्वलिंग-रहित, निर्धर्मक, चेतन तत्त्व है **ब्रह्म तत् इति अवधेयम्**-- वह ब्रह्म है, ऐसा समझना, ग्रहण करना। यहाँ तक निरुपाधिक निर्गुण ब्रह्म के लक्षण बताये हैं यानी ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं है, अतः 'यह' 'वह' आदि सर्वनाम उसको कैसे व्यक्त कर सकते हैं। शंका--ब्रह्मविद्या के सैंकड़ों ग्रंथ भरे हैं जिनमें ब्रह्म का वर्णन किया गया है। समाधान --उनमें सोपाधिक साक्षी ब्रह्म का वर्णन है, निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म का नहीं। 'यह' 'वह' प्रत्ययों से यदि ब्रह्म सूचित हो सके तो दो दोष आयेंगे, वे क्या ?

नो चेत् विषयः भवेत्--नहीं तो वह मन वाणी का विषय बन जायेगा। मन उस की कल्पना कर सकेगा, और वाणी उस का वर्णन कर सकेगी। वह हस्ती, यह अश्व, ऐसा सुन्दर मृग, वैसा ज्ञान, इतना जल, उतना दूध इत्यादि प्रत्ययों से तो अश्व, हस्ती मृगादि को मन इन्द्रियाँ विषय करती हैं, परन्तु ब्रम्ह का नहीं, क्योंकि वेद भगवान कहते हैं 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ' इति श्रुतिः।

अतः वह, यह, इतना उतना आदि का भेद ब्रह्म में नहीं बनता। दूसरा दोष बताते हैं **परोक्षम् च**--साक्ष्य वस्तु साक्षी से सदा दूर, भिन्न होती है, अभिन्न नहीं। ब्रह्म अपना निजीरूप है अतः ब्रह्म में भेद मानने से उसमें परोक्षता का दोष आ जायेगा, अर्थात् निजरूप से भिन्न हो जायेगा ।।१८।।

इदमिदमिति प्रतीते वस्तुनि सर्वत्र बाध्यमानेऽपि।
अनिदमबाध्यं तत्त्वं तस्मादेतस्य न च परोक्षत्वम् ॥१९॥

अर्थ—'यह' 'यह' इस प्रकार प्रतीत होनेवाली वस्तु के सर्वत्र बाध होने पर भी, 'इदम् से भिन्न' (आत्मा) अबाध्य तत्त्व है। इसलिये इसकी परोक्षता कभी नहीं होती।

व्याख्या—इदम् इदम् इति प्रतीते वस्तुनि—'यह है' 'यह है' इस प्रकार दृश्य वस्तु के, दो बार इदम् कहने से कार्य उपाधि और कारण उपाधि समझना। कार्य उपाधि का अर्थ है पंचकोश और कारण उपाधि का अर्थ है माया। मन, बुद्धि इन्द्रियादिकों से ग्राह्य वस्तु के **सर्वत्र बाध्यमाने अपि**—सब अवस्थाओं में बाधित होने पर भी, जाग्रत् अवस्था का स्वप्न तथा सुषुप्ति में बाध होता है, स्वप्न का जाग्रत् और सुषुप्ति में बाध होता है, और सुषुप्ति का जाग्रत् और स्वप्न में बाध हो जाता है, अतः ये अवस्थाएं व्यभिचारी होने से मिथ्या हैं। इस मायिक प्रपंच का बाध होने पर भी

अन्-इदम् अबाध्यम् तत्त्वम्—जो 'इदम् तत्त्व नहीं है' उसका बाध नहीं होता। 'अनिदम्' उपलक्षण से कहा है, 'अतादृशम्' इत्यादि भी जिन को १८ वें श्लोक में कहा है, साथ समझना। प्रयोजन यह कि जिस तत्त्व को 'यह', 'वह' 'ऐसा' 'वैसा', 'इतना',' उतना', आदि भेदवाचक प्रत्यय निरूपित नहीं कर सकते वह तत्त्व अबाध्य है। 'नेति' 'नेति' वाक्य से 'यह आत्मा नहीं है' 'यह आत्मा नहीं है' इस प्रकार जिसका बाध हो जाये वह तो इदमादि शब्दों से निर्दिष्ट होता है, परन्तु इन सबका अधिष्ठान जो कि मनोवाचामगोचर है, उसका बाध नहीं होता है। आत्मारूपी पट पर नानात्मकजगत् चित्रित है। वे चित्र उदय होते हैं, अस्त होते हैं, परन्तु वह परदा ज्यों का त्यों—अविकारी रहता है। अग्नि के दृश्य से सिनेमा का परदा नहीं जलता, न वर्षा से भीगता है न तलवारों का झनझनाहटों से कटता है, न प्रचंड वायु से कम्पित होता है। वह परदा चलचित्र का अविकारी आधार है। उस का बाध नहीं होता। मैं जाग्रत् को जानने-वाला हूँ, मैं स्वप्न का भी ज्ञाता हूँ, मैं सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधि का भी

ज्ञाता हूँ'। जाग्रत् स्वप्नादि का बाध हो जाता है--पर मेरा बाध नहीं होता।

तस्मात् एतस्य न च परोक्षत्वम्--इसलिए इस अबाध्य तत्त्व ब्रह्म की मुझ से भिन्नता नहीं है, वह तत्त्व स्वयंसाक्षी है, उसको उससे भिन्न होकर कोई नहीं जान सकता। इस लिये ब्रम्ह का एक लक्षण अपरोक्षता है ॥१९॥

नावेद्यमपि परोक्षं भवति ब्रह्म स्वयं-प्रकाशत्वात्।
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्येतस्य लक्षणं प्रथते ॥२०॥

अर्थ--वह ब्रह्म अज्ञात होता हुआ भी परोक्ष नहीं होता, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है। वेद भगवान 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' ब्रह्म के प्रसिद्ध लक्षण कहते हैं।

व्याख्या--जो वस्तु अवेद्य (विना जानी हुई) होती है वह तो सदा ही परोक्ष रहती है, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं--**न अवेद्यम् अपि परोक्षम् भवति ब्रह्म**--ब्रह्म तत्त्व मन, बुद्धि, इन्द्रियादियों से अवेद्य, न जानने योग्य होता हुआ भी कभी परोक्ष नहीं हो सकता। यदि आप कहें कि ऐसा तत्त्व परोक्ष भी हो सकता है तो हम कहेंगे कि वह जाना भी जा सकता है। प्रयोजन यह है कि जो अपने से भिन्न होता है, उसी को मन बुद्धि इन्द्रियाँ जान सकती हैं, जड़ मन बुद्धि आदि कैसे जान सकती हैं? ब्रह्म के प्रकाश से चेतनीभूत हो कर, परन्तु ब्रह्म का अन्य कोई साक्षी नहीं है, वह स्वयंसाक्षी है, अतः वह अपने आप ही अपने को जानता है। वह स्वयं साक्षी क्यों है? **स्वयंप्रकाशतत्वात्**--क्यों कि वह स्वयंप्रकाश है, 'स्वयंज्योतिः' इति बृहदारण्यक श्रुतिः, ४।३।९। यदि ब्रह्म पर-प्रकाश्य होता तो पर-वस्तु उस को जान सकती थी, परन्तु ऐसा है नहीं, अतः इन्द्रियातीत ब्रह्म परोक्ष नहीं हो सकता।

ब्रह्म के स्वरूप लक्षण क्या हैं? **सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म इति एतस्यलक्षणम्**--सत्य-अविनाशी त्रिकालाबाध्य, नित्य, इस श्लोक में भग-

वान भाष्यकार ने तैत्तिरीयोनिषद का प्रमाण दिया है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' २।१। तात्पर्य यह है कि किसी प्रमाण से––स्वत: अथवा परत:– भी किसी अवस्था, काल में भी ब्रह्म का बाध नहीं हो सकता। ज्ञान बोधरूप, प्रकाशरूप अनन्त––देश, काल, वस्तु से जिसका अन्त न हो, परिपूर्ण अर्थात् जो सब देशों में कालों में, वस्तुओं में अभिन्नरूप से हो। ब्रह्म के ये तीन लक्षण प्रसिद्ध हैं। ब्रह्म अविनाशी, सत्तारूप, ज्ञानरूप और देश-काल-वस्तु से असीमित है ॥२०॥

यदि ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त लक्षण वाला है तो अल्पज्ञ जीव और सर्वज्ञ ईश्वर कहाँ से आये? इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं।

सति कोशशक्त्युपाधौ सभवतस्तस्य जीवतेश्वरते ।
नो चेत्तयोरभावाद् विगतविशेषं विभाति निजरूपम् ॥२१॥

अर्थ––ब्रह्म पर मायारूपी शक्ति की उपाधि से ईश्वर होता है, अविद्यारूपी शक्ति की उपाधि से जीव होता है, नहीं तो ईश्वर के संबंध में माया और जीव के संबंध में अविद्या के अभाव से सर्व धर्मों से रहित आत्मा निजरूप से प्रकाशित होता है।

व्याख्या––सति कोशशक्ति-उपाधौ––जब ब्रह्म माया की उपाधि धारण सा करता है तब वह ईश्वर कहलाता है। सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता तथा स्वतंत्रतादि उसके लक्षण होते हैं। जब ब्रह्म अविद्या की उपाधि धारण सा करता है तब वह जीव कहलाता है। अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता तथा परतंत्रतादि उसके लक्षण होते हैं। माया और अविद्या में क्या अन्तर है? शुद्धसत्त्वगुण-प्रधाना माया होती है और मलिनसत्त्वगुणप्रधाना अविद्या होती है। माया स्वच्छ और अविद्या मलिन होती है। अत: स्वच्छमायोपाधि से ईश्वर में सर्वज्ञतादि गुण हैं, और मलिनाविद्योपाधि से जीव में अल्पज्ञ-तादि गुण हैं। यहाँ कोश का अर्थ है आवरक, आच्छादक। माया की

शक्ति से ब्रह्म आच्छादित किया जाने पर वह मायोपाधि वाला ब्रह्म ही ईश्वर कहलाता है। अविद्या के आवरण से ब्रह्म ही जीव कहलाता है। वास्तव में ब्रह्म को आवरण नहीं है, केवल उपदेश के लिये ऐसा बताया है।

संभवतः तस्य जीव–ईश्वरते––अविद्या के आवरण से जीव की और माया के आवरण से ईश्वर की उत्पत्ति सी होती है, कहाँ से? ब्रह्म में से अर्थात् जीव ईश्वर की उत्पत्ति का कारण मायोपहित ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही जीवेश्वररूप से व्यक्त होता है। वास्तव में उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि ब्रह्म अजन्मा असंग और निष्क्रिय है। यह सब माया का विलास है। **नो चेत्**––नहीं तो **तयोः अभावात्**––जीव की उपाधि अविद्या अथवा कार्य-उपाधि और ईश्वर की उपाधि माया अथवा कारण-उपाधि, इन दोनों के बाध होने से **विगतविशेषम् विभाति**––सब विशेषताओं से रहित हुआ; इदम्, अदः, त्वम्, अहम् आदि सर्व प्रत्ययों से विरहित हुआ प्रकाशमान होता है, क्या? **निजरूपम्**––अपने आपे के रूप से ब्रह्म प्रकाशित, अनुभूत होता है। यदि जीव और ईश्वरता सत्य होती तो उनका बाध नहीं होता। अतः सत्यज्ञानानन्त लक्षणवाला ब्रह्म ही अन्तःकरण में बुद्धि का साक्षी होकर 'अहम्' 'अहम्' करके निजरूप से स्फुरित होता है ।।२१।।

सति सकलदृश्यबाधे न किमप्यस्तीति लोकसिद्धं चेत् ।
यन्न किमपीति सिद्धं ब्रह्म तदेवेति वेदतः सिद्धम् ।।२२।।

अर्थ––यदि आप कहें कि यह लोकप्रसिद्ध बात है कि समस्त दृश्यप्रपंच के बाध होने पर कुछ भी नहीं रहता, तो हमारा कहना है कि 'जो कुछ भी न हो' (जिस के कुछ भी धर्म न हों) इस प्रकार लोक में जो प्रसिद्ध है, वह ही ब्रह्म वेद प्रमाण से प्रसिद्ध है।

व्याख्या––'नेति' 'नेति' वेदवाक्य से सब दृश्य बाध होने पर कुछ अवशेष नहीं रहता, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं।

सति सकलदृश्यबाधे—मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से ग्राह्य समस्त दृश्य-प्रपंच के बाध होने पर, अहंकार से लेकर स्थूलदेहपर्यन्त, अथवा पंचकोशों के बाधित होने पर अर्थात् ये आत्मा नहीं हैं **न किम् अपि अस्ति इति लोकसिद्धम् चेत्**—यदि हम कहें कि कुछ भी अवशेष नहीं रहता, तो आत्मा कहाँ से रहेगा। यह कहना किसी एक व्यक्ति का नहीं है, परन्तु लोक में ही ऐसा प्रसिद्ध है जैसे एक सर्जन (Surgeon) ने कहा था कि उसने हजारों आपरेशन किये हैं, परन्तु उसे आत्मा नाम की कोई वस्तु मनुष्यदेह में नहीं मिली। इस पर आप का क्याकथनहै ?

यत् न किम् अपि इति सिद्धम्—जो तत्त्व कुछ भी नहीं है, इस प्रकार जो लोक में अर्थात् स्थूलदृष्टि से प्रसिद्ध है, जिस तत्त्व में 'तत्', 'इदम्' 'तादृश' 'ईदृश' आदि का भेद नहीं है, जिस ब्रह्म का मन चिन्तन नहीं कर सकता, और न वाणी जिसको व्यक्त कर सकती है, जिस का न कोई रूप है न रंग, न नाम है न गंध, न लिंग है न लक्षण, न ऐसा है न वैसा, जो न इतना है न उतना, इस प्रकार जो ब्रह्मतत्त्व वेदों में प्रसिद्ध है **ब्रह्म तत् एव इति वेदतः सिद्धम्**—वही तत्त्व ब्रह्म है, यह वेदप्रमाण से सिद्ध है। वह प्रमाण क्या है ? 'अस्थूलम्-अनणु-अह्रस्वम्-अदीर्घम्. . . ।' इति बृहदारण्यक श्रुतिः ३।८।८ हे गार्गि ! ब्रह्मतत्व न मोटा है न पतला, नछोटा है न बड़ा. . .। 'अशब्दम्-अस्पर्शम्-अरूपम्-अव्ययम्।' इति कठश्रुतिः १।३।१५। जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय है, उस ब्रह्म को जान कर मृत्यु से छूट जाता है। आत्मतत्त्व मन वाणी का विषय नहीं है। अतः उसको वेदवाक्य के प्रमाण से जाना जाता है ॥२२॥

एवं मतिरहितानां तत्त्वमसीत्यादि-वाक्यचिन्तनया।
प्रतिभात्येव परोक्षवदात्मा प्रत्यक्प्रकाशमानोऽपि ॥२३॥

अर्थ—'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्य के चिन्तन से सर्वान्तर निजरूप से प्रकाशित होता हुआ भी आत्मा बुद्धिरहित पुरुषों को परोक्षकी भांति (निजरूप से भिन्न) प्रतीत होता है।

व्याख्या—एवम् मतिरहितानाम्—इस प्रकार अर्थात् जो ऐसा कहते हैं कि पंचकोश निराकरण के पश्चात् कुछ नहीं रहता ; ऐसे विवेकशून्य पुरुषों के लिये, तमोगुण रजोगुण से मलिन बुद्धिवालों के लिये वह आत्मा दूर ही रहता है। जिन्होंने श्रीगुरुमुख द्वारा वेदान्त-श्रवण नहीं किया है, अथवा श्रवण करके मननिदिध्यासन तथा तत्वंपदार्थशोधन नहीं किया है वे मतिरहित अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति से शून्य रहते हैं, और ऐसे ही पुरुष कुतर्क किया करते हैं। वह आत्मा किस प्रकार प्रत्यक्ष होता है? **तत्त्वमसि इत्यादि-वाक्य-चिन्तनया**—'तत्त्वमसि' यह सामवेद की छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७ का महावाक्य है। इस का अर्थ है 'परमेश्वर तू है।' आदि पद से अन्य तीन वेदों के तीन महावाक्य समझना। ऋग्वेद का महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म', यजुर्वेद का महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' तथा अथर्ववेद का महावाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म।' 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ भगवान् भाष्यकार ने अपने ग्रंथ 'वाक्यवृत्तिः' में विशेषरूप से दिया है। इन महावाक्यों के अर्थ-विचार से प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाला वेद प्रसिद्ध आत्मा **प्रतिभाति एषः परोक्षवत् आत्मा**—अपने से भिन्न सा भासता है, वास्तव में भिन्न नहीं, भिन्न क्यों भासता है? इसलिये कि वे मतिरहित प्रज्ञारहित, सूक्ष्म-एकाग्रबुद्धिरहित है। उन्होंने महावाक्यार्थ चिन्तन नहीं किया है। सुष्ठु बुद्धिवालों को वह प्रसिद्ध आत्मा कैसा भासता है? **प्रत्यक् प्रकाशमानः अपि**—जिन्होंने तत्वमस्यादिवाक्य विचार किया है, उनको वह आत्मा सर्वान्तर, ज्ञान से देदीप्यमान और निजरूप से अभिन्न प्रत्यक्ष भासता है। शाश्वत वर्तमान रहनेवाला आत्मा भी मतिरहितों को परोक्ष भासता है। कितना आश्चर्य है कि अपने को अपना आपा परोक्ष भासता है। वह आत्मा अपरोक्ष किसप्रकार भासेगा? अगले श्लोक में भगवान भाष्यकार बताते हैं। ॥२३॥

'तत्त्वं' पदार्थ विचार

तस्मात्पदार्थशोधनपूर्वं वाक्यस्य चिन्तयन्नर्थम्।
देशिकदयाप्रभावादपरोक्षयति क्षणेन चात्मानम् ॥२४॥

अर्थ––इसलिये महावाक्य के पदों के अर्थों को पहले शोधन करके वाक्य के अर्थ का चिन्तन करते हुए मुमुक्षु को श्रीगुरुदेव की कृपा के प्रभाव से क्षणभर में आत्मा का साक्षात्कार होता है ।

व्याख्या––आत्मा का आकस्मिक साक्षात्कार नहीं हो सकता, अतः उसकी उपयुक्त विधि बताते हैं । **तस्मात्**––इसलिये अर्थात् हे शिष्य ! यदि तेरी इच्छा आत्मसाक्षात्कार करने की है तो सुन **पदार्थशोधनपूर्वम् वाक्यस्य चिन्तयन् अर्थम्**––पहले पदों के अर्थों का शोधन कर अर्थात् सही अर्थ समझ, जैसे सुवर्ण को अग्नि में शुद्ध करते हैं वैसे ही 'तत्+त्वम्+असि' इन तीन पदों का अर्थ शुद्ध कर । तत् और त्वम् इन दोनों के दो प्रकार के अर्थ हैं, एक वाच्यार्थ और दूसरा लक्षितार्थ । इन पदों के वाच्यार्थों में तो विरोध है, परन्तु लक्षित अर्थ में नहीं, उस में एकता है । उस एकता को जानना ही पदों के अर्थों का शोधन है ।

अर्थशोधन के उपरान्त महावाक्य के अर्थ का चिन्तन कर, यानी उस एकता का साक्षात् अनुभव कर। प्रयोजन यह है कि केवल बौद्धिक अवगति (intellectual understanding) से आत्म-साक्षात्कार नहीं होता है, वरन् उन पदों के लक्षित अर्थ की एकता को प्रत्यक्ष करने से ही आत्मदर्शन होता है । शिष्य पूछता है कि क्या मेरे अपने सामर्थ्य से महावाक्यसिद्ध हो जायेगा ? श्रीगुरु कहते हैं, तेरा पुरुषार्थ तो प्रधान रहेगा ही परन्तु **देशिकदया-प्रभावात् अपरोक्षयति क्षणेन च आत्मानम्**––ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की अहेतुक कृपा, अर्थात् अधिकारी साधक पर कृपा, उपदेशामृत यथार्थ मार्गदर्शन के प्रभाव से मुमुक्षु क्षण भर में, विना विलम्ब के, आत्मा का साक्षात् करता है, चकार से साधक के पुरुषार्थ के अतिरिक्त । श्रीगुरु अपने उपदेशामृत से साधक पर शक्तिपात करते हैं और उसकी वृत्ति में द्वैतप्रवाह को क्षीण करते हैं, और लक्ष्य में प्रवृत्त कराते हैं, अर्थात् समाधि के विघ्नों को निवारण करने में सहायक होते हैं । श्रीगुरु-कृपा का ब्रह्मविद्योपार्जन में विशेष महत्त्व है ––

प्रसादेन विना देवं, ये जानन्ति सुरर्षभाः ।
ते जानन्ति विना घ्राणं, गन्धं हस्तेन केवलम् ।।

ब्रह्मगीता ४।११७।

हे श्रेष्ठदेवगण, जो गुरुकृपा के विना, आत्मा को जानते हैं, उनका जानना ऐसा है, जैसे कि नाक के विना, केवल हाथ से, गंध का जानना ।।२४।।

अब त्वम्पद का वाच्यार्थ बताते हैं ।

देहेन्द्रियादिधर्मानात्मन्यारोपयन्नभेदेन ।
कर्तृत्वाद्यभिमानी बोधः स्यात्त्वंपदस्य वाच्योऽर्थः ॥२५॥

अर्थ––देह, इन्द्रियादिकों के धर्मों को अभेदरूप से आत्मा में आरोपण करने से कर्तापनादि का अभिमानी जीव त्वम्पद का वाच्यार्थ है ।

व्याक्ख्य––देहेन्द्रियादिधर्मान् आत्मनि आरोपयन् अभेदेन–– शरीर, पंच कर्मेन्द्रियां और पंच ज्ञानेन्द्रियां, आदि पद के प्राण, मन, बुद्धि, इन के धर्मों को । इनके कौन से धर्म हैं ? पैदा होना, बढ़ना, बदलना, घटना, नाश होना, बालापन, यौवन, जरा, वर्णाश्रम धर्म- ये सब शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं । श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना तथा घ्राण ये पंचज्ञानेन्द्रियां है । शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध ये क्रमशः ज्ञानेन्द्रियों के पृथक्-पृथक् धर्म हैं, आत्मा के नहीं । पाणि, पाद, जिह्वा, उपस्थ, गुदा––ये पंच कर्मेन्द्रियां हैं । आदानप्रदान-गमन-वदन-मूत्रत्यागन-मलत्यागन ये क्रमशः कर्मेन्द्रियों के पृथक् पृथक् धर्म हैं, आत्मा के नहीं । भूख, प्यास, फैलाव, संकोच, श्वास लेना छोड़ना, क्रिया आदि प्राण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं । मनन करना मन का धर्म, निर्णय करना बुद्धि का धर्म है, ये आत्मा के धर्म नहीं हैं ।

इन अनात्म धर्मों को आत्मा में आरोपण करना अर्थात् इनको आत्मा के अपने धर्म समझना । 'मैं मोटा हूँ, युवा हूँ, मैं सुनता हूँ,

मैं रूप देखता हूँ, मैं दान देता हूँ, श्वास लेता हूँ, मैं सोचता हूँ, निर्णय करता हूँ इत्यादि,' इस प्रकार देहेन्द्रियादियों के व्यापारों को अपने आत्मा के व्यापार जानना। किस प्रकार? अभेद से अर्थात् देह इन्द्रियादिकों का आत्मा के साथ तादात्म्य करके अर्थात् मैं देह हूँ इन्द्रिय हूँ, इस प्रकार। तात्पर्य यह है जब आत्मा का तादात्म्य देह से होता है तो मोहित सा हुआ आत्मा अपने को देह जानता है, वैसे ही इन्द्रियों प्राण, मन, बुद्धि के साथ एकात्मत्व संबंध स्थापित करके अपने को इन्द्रिय, प्राण जानता है। वास्तव में असंग आत्मा का तादात्म्य नहीं होता, तादात्म्य भ्रांति से होता है।

परधर्मारोपण और तादात्म्य का फल उत्तरार्ध श्लोक में बताते हैं। **कर्तृत्वादि - अभिमानी बोधः**—मोहितात्मा अपने को कर्ता, आदि पद से भोक्ता मानता है। कर्तापन भोक्तापन का अभिमान करता है,वास्तव में कर्ताभोक्तापन विज्ञानमय कोश, अथवा जीवात्मा का धर्म है, मुख्यात्मा का नहीं। कर्तापन भोक्तापन वासना के कारण होता है, परन्तु आत्मा में वासना की गंध भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा आप्तकाम, कृतकृत्य होता है। कर्तापन भोक्तापन के अभिमान का बोधः-ज्ञान **स्यात् त्वम् पदस्य वाच्यः अर्थः**—'तत्त्वमसि' महावाक्य में स्थित त्वम् पद का वाच्यार्थ यानी सीधा अर्थ जीवात्मा है। इस अर्थ के समझने में लक्षणावृत्ति लगाने की आवश्यकता नहीं। त्वम्पद का वाच्यार्थ, सीधा अर्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परतन्त्र, दीन, दुःखी, कर्ताभोक्ता जीव है।

अर्थ दो प्रकार के होते हैं। एक वाच्यार्थ दूसरा लक्ष्यार्थ। जब किसी पद के सीधे अर्थ से संगति न बैठे तो लक्षणावृत्ति का प्रयोग किया जाता है, अर्थात् अमुक पद किस अर्थ को लक्षित करता है, किस अर्थ की ओर संकेत करता है, यानी उस अर्थ को प्रत्यक्ष न बता कर केवल उसका संकेत करता है। उस संकेतित अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा जाता है। जैसे 'गंगा में घोषियों का ग्राम', इस प्रकार कहने से असंगति आती है, क्योंकि नदी के बीच में ग्राम का होना असंगत है अतः

विचार करना पड़ेगा कि 'गंगा' पद किस अर्थ को लक्षित करता है। यहां 'गंगा' पद का लक्षित अर्थ 'गंगातट' है। गंगातट पर घोषियों का ग्राम। गंगा का वाच्यार्थ तो जलप्रवाह, परन्तु लक्षितार्थ गंगातट है।

लक्षणा के संबंध में भगवान भाष्यकार स्वयं ही इस ग्रंथ के ३१ से लेकर ३६ श्लोक तक बतायेंगे। हमने यहाँ भूमिकामात्र दिया है ॥२५॥

अब अगले श्लोक में त्वम्पद का लक्षितार्थ बताते हैं ॥

देहस्य चेन्द्रियाणां साक्षी तेभ्यो विलक्षणत्वेन ।
प्रतिभाति योऽवबोधः प्रोक्तोऽसौ त्वंपदस्य लक्ष्योऽर्थः ॥२६॥

अर्थ—देह का तथा इन्द्रियों का जो साक्षी है और उन से विलक्षण रूपसे जो ज्ञान प्रकाशित होता है, वह त्वम्पद का लक्षित अर्थ कहा जाता है।

व्याख्या—**देहस्य च इन्द्रियाणां साक्षी**—अब त्वम्पद का लक्षितार्थ बताते हैं। देहादि में अभिमानी जीव तो त्वम्पद का वाच्यार्थ, परन्तु देहादि का साक्षी उसका लक्ष्यार्थ है। देह का, इन्द्रियों का, चकार से प्राण, मन तथा बुद्धि समझना, इन का साक्षी अर्थात् इन को तटस्थ होकर जानने वाला, साक्षी स्वयंप्रकाश चेतन तत्त्व। 'ज्ञातृज्ञानज्ञेयानाम् आविर्भाव-तिरोभावज्ञाता स्वयमेवम् आविर्भाव-तिरोभावहीनः स्वयंज्योतिः स साक्षीत्युच्यते' इति सर्वसारोपनिषद। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटीके उदयास्त का जाननेवाला अपने आप उदय-अस्त रहित स्वयंप्रकाश जो तत्त्व है उसे साक्षी कहते हैं।

विलक्षणत्वेन प्रतिभाति यः अवबोधः—न केवल देहादि का साक्षी

हो वरन् इनसे भिन्नलक्षणवाला भी, किस प्रकार ? देहेन्द्रियादि पर-प्रकाश, विनाशशील, अनेकतत्त्वों से संगठित हैं, परन्तु चैतन्य साक्षी स्वयंप्रकाश, अजन्मा-अविनाशी, अद्वितीय होता है। यही इसकी मायिक पदार्थों से विलक्षणता है। इस प्रकार जो स्वयंप्रकाश साक्षी दृश्यप्रपंच से भिन्न शुद्धज्ञान रूप होकर प्रकाशित होता है **प्रोक्तः असौ त्वम्पदस्य लक्ष्यार्थः**—वह त्वम्पद का लक्षितार्थ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि त्वम्पद का वाच्यार्थ, सीधा अर्थ तो जीव है, परन्तु महावाक्य के अर्थ में वाच्यार्थ उपयुक्त नहीं बैठता। 'तत्त्वमसि' का अर्थ है 'परमेश्वर तू है।' वाच्यार्थ के अनुसार 'परमेश्वर जीव है', ऐसा अर्थ निकलेगा। परन्तु परमेश्वर का जीव होना असंगत और शास्त्र विरुद्ध है। अतः त्वम्पद का लक्ष्यार्थ लेना पड़ेगा। इस का लक्ष्यार्थ है साक्षी कूटस्थ चैतन्य प्रत्यगात्मा ॥२६॥

यहाँ तक त्वम्पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ बताया है। अब तत्पद का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ अगले दो श्लोकों में बताते हैं। पहले वाच्यार्थ बताते हैं।

वेदावसानवाचा संवेद्यं सकलजगदुपादानम्।
सर्वज्ञताद्युपेतं चैतन्यं तत्पदस्य वाच्योऽर्थः ॥२७॥

अर्थ—उपनिषदों के वचन से जानने योग्य, समस्त जगत् का उपादान कारण, सर्वज्ञादि लक्षणों से युक्त चैतन्य तत्पद का वाच्यार्थ होता है।

व्याख्या—वेदावसानवाचा संवेद्यम्—वेद की वाणी जहाँ शान्त हो जाती है, अर्थात् वेदों का अन्तिम भाग, उपनिषदें, उन के वचन से जानने योग्य। परमार्थरूप से वह तूष्णीभावरूप है। उसको मन और वाणी नहीं जान सकते। प्रत्यक्ष ज्ञानसाधनों की अयोग्यता के कारण वह वेद वचनों से जानने योग्य है। **सकलजगत्-उपादानम्**—समस्त

दृश्यप्रपंच का उपादान, मुख्य कारण है। मायोपहित ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। जो वस्तु कार्य के कलेवर में प्रवेश कर जाये, और सृष्टिस्थितिप्रलय तक साथ रहे उस वस्तु को उपादान कारण कहते हैं, जैसे मिट्टी, घटकार्य का, उपादान कारण है। निमित्त कारण, गौण कारण, जैसे घट निर्माण में कुम्भकार। ब्रह्म सब का अधिष्ठान होने से तथा सब को प्रकाशित करने से निमित्तोपादान कारण है। मायोपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है।

सर्वज्ञतादि उपेतम् चैतन्यम्––सर्व को साधारणरूप से जानने के कारण ईश्वर सर्वज्ञ कहलाता है, जो सर्वज्ञता, आदिपद से सर्वशक्तिमत्ता,तथा स्वतंत्रता यानी कर्मों से स्वाधीन, ऐसे धर्मों से युक्त चैतन्यतत्त्व यानी ईश्वर **तत्पदस्य वाच्यार्थः**––'तत्त्वमसि' महावाक्य के प्रथम पद 'तत्' का वाच्यार्थ, सीधा अर्थ है। महावाक्य के 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान पराधीन जीव होता है। अत्र हेतु, जीव की उपाधि अविद्या होती है जो कि मलिन है, ईश्वर की उपाधि माया है जो कि स्वच्छ है। स्वच्छ वस्तु में से सब कुछ स्पष्ट दिखाई पड़ता है, अतः ईश्वर सर्वज्ञ है, और जीव को सब कुछ दिखाई नहीं पड़ता अतः वह अल्पज्ञ है ॥२७॥

त्रिविधोपाधिविमुक्तं विश्वातीतं विशुद्धमद्वैतम् ।
अक्षरमनुभववेद्यं चैतन्यं तत्पदस्य लक्ष्योऽर्थः ॥२८॥

अर्थ––नाना प्रकार की उपाधियों से मुक्त, विश्व से अतीत, विशुद्ध, अद्वैत, अक्षर, अनुभवगम्य चैतन्य तत्पद का लक्ष्यार्थ होता है।

व्याख्या––अब तत् पद का लक्ष्यार्थ बताते हैं। **विविध-उपाधिविमुक्तम्**––जैसे जीव की तीन उपाधियाँ होती हैं वैसे ही ईश्वर की भी तीन उपाधियाँ होती हैं। स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर––ये जीव की तीन उपाधियाँ हैं, इनकी अभिव्यक्ति क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्था में होती है। वैसे ही ईश्वरकी

स्थूलउपाधि अर्थात् समस्त जीवों के स्थूलशरीरों की समष्टि, समुदाय ईश्वर का विराट शरीर। समस्त जीवों के सूक्ष्मशरीरों का समुदाय ईश्वर की सूक्ष्म उपाधि कहलाती है। अव्यक्तमाया अथवा कारण उपाधि ईश्वर का कारणशरीर कहलाता है। जो अपनी समीपता के कारण अपने धर्मों को अपने आधार में आरोपण सा करे उसे उपाधि कहते हैं। जब आत्मापर स्थूल शरीरके गुणों का आरोपण सा होता है तो मोहित आत्मा अपनेको स्थूल देह समझने लगता है। स्थूलशरीर आत्मा की उपाधिमात्र है, आत्मा वास्तव में स्थूल शरीर नहीं है। शरीर का आत्मा के साथ असंग संग है। नाना प्रकार की उपाधियों से मुक्त चैतन्यतत्त्व तत्पद का लक्ष्यार्थ है।

विश्वातीतम्––समस्त दृश्य प्रपंच की पहुँच से बाहर, स्थूल-दृष्टि से अग्राह्य; मन बुद्धि प्राण इन्द्रियों से अतीत अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म अतः अप्राप्य **विशुद्धम्**––मायामल–रहित, एकतत्त्व, एकरस अतः **अद्वैतम्**––द्वैतरहित, विजातीय-सजातीय स्वगतभेदशून्य, निर्भेद। भेद को दृष्टान्त से समझाते हैं। पाषाण वृक्ष का भेद विजातीय भेद कहलाता है। बिल्व आम्रादि वृक्षों का भेद सजातीय भेद कहलाता है। एक ही वृक्ष में मूल, तना, शाखा, पत्र, पुष्प आदि भेद स्वगतभेद कहलाता है। ब्रह्म में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है अतः वह अद्वैत कहलाता है।

अक्षरम्––जो क्षर न हो अर्थात् न घटे, सर्व परिवर्तन–रहित। षड्भावविकाररहित––पैदा होना, स्थिति, बढ़ना, बदलना, घटना, नाश होना-ये छः भावविकार कहलाते हैं। मायिक पदार्थ इन भावों से सदा आहत होते हैं, परन्तु ब्रह्म नहीं, क्योंकि वह अजन्मा, अविनाशी एकरस, एकतत्त्व, सर्वोपाधियों से रहित होता है। जीवन-मरणादि विकार उपाधियों तक सीमित हैं। **अनुभववेद्यम्**––ऐसा ब्रह्म तत्त्व विश्वातीत होने से मन वाणी का विषय नहीं होता। वह तो रजतम-गुणरहित, अतिसूक्ष्म, एकाग्र, विशुद्धसत्त्वगुणी अन्तःकरण की वृत्ति से विषय किया जाता है, कब? निर्विकल्प समाधि अवस्था में।

वेदान्त के आचार्य ऐसी वृत्ति को ब्रह्माकार वृत्ति कहते हैं। अतः ब्रह्म अनुभव का विषय है, प्रत्यक्षानुमान प्रमाणों का नहीं। वही वन कर उसको वही निज में जानता है, क्योंकि वह स्वयंसाक्षी है, उसका साक्षी कोई अन्य नहीं। स्वयंसाक्षी होने से वह **चैतन्यम्**—शुद्ध स्वतंत्र ज्ञानरूप है। **तत् पदस्य लक्ष्यः अर्थः**—सर्वोपाधि रहित, मायातीत, विशुद्ध, अद्वैत, अक्षर, स्वसंवेद्य चैतन्य ब्रह्मतत्त्व को 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तत पद लक्षित करता है। तत् पद का अर्थ ब्रह्म नहीं है, वरन् तत् पद उसकी ओर इशारा करता है, जैसे कि तटपर खड़े लोग नाविक को मार्ग दिखाते हैं। तो वह साक्षात् कैसे जाना जाये? निर्विकल्प समाधि में वही होकर उसकी अनुभूति होती है ।।२८।।

अगले श्लोक में महावाक्य के पदों और अर्थों में तीन प्रकार के संबंधों की संभावना वता कर, पुनः ३८ श्लोक तक तत् और त्वम् पदों की लक्षणावृत्ति से एकरसता निरूपण करते हैं। भगवान भाष्यकार ने अपने 'वाक्यवृत्तिः' नामक ग्रंथ में इसी एकांगी विषय को लिखा है।

पदार्थ संबंधत्रय लक्षण

सामानाधिकरण्यं तदनु विशेषणविशेष्यता चेति ।
अथ लक्ष्यलक्षकत्वं भवति पदार्थात्मनां च सम्बन्धः ।।२९।।

अर्थ—समानाधिकरण, और उसके पीछे विशेषण-विशेष्य तथा लक्ष्य-लक्षकत्व ये तीन पद, अर्थ, तथा आत्मा के तीन संबंध कहलाते हैं।

व्याख्या—सामानाधिकरण्यम्—अव तीन प्रकार के संबंधों के लक्षण बताते हैं। पहला संबंध समानाधिकरण है, अर्थात् जिन पदों की समान विभक्तियाँ होती हैं उन पदों का समान अधिकार होता है जैसे 'सः अयम् द्विजः' वह यह द्विज है 'सः' और 'अयम्' पद में

समानाधिकरण संबंध है। इन दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति एक वचन है। ऐसे है 'तत् त्वम् असि' इस महावाक्य में तत्पद और त्वम्पद में प्रथमा विभक्ति एक वचन है। तत् तथा त्वम् पदों के संबंध को समानाधिकरण कहते हैं। **तत् अनु विशेषण-विशेष्यता च**—इसके उपरान्त दूसरा संबंध विशेषण-विशेष्य होता है यथा 'सः अयम् द्विजः' वह यह ब्राह्मण है। इन पदों में 'सः' विशेषण है और 'अयम्' विशेष्य है। इसके विपरीत भी कह सकते हैं यानी पहला पद विशेष्य है, दूसरा पद विशेषण है। जिसका विशेषण हो, उसे विशेष्य कहते हैं परन्तु दोनों पद एक ही द्विज को बताते हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि पदों का संबंध समानाधिकरण कहलाता है, और पदोंके वाच्यार्थोंका संबंध विशेषण-विशेष्य कहलाता है। ऐसे ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तत्पद का वाच्यार्थ ईश्वर और त्वम्पद का वाच्यार्थ जीव, और 'असि' पद से इनकी एकता होती है। 'ईश्वर जीव है', इस प्रकार वाच्यार्थ हुआ। परन्तु ईश्वर का जीव होना संभव नहीं, अतः वाच्यार्थोंसे महावाक्यका अर्थ सिद्ध नहीं होता। **अथ लक्ष्य-लक्षकत्वम् भवति**—इन दोनों संबंधों के उपरान्त लक्ष्य लक्षकत्व संबंध होता है। यह संबंध पदों के लक्षित अर्थों में होता है, वाच्यार्थों में नहीं। तत्त्वमसि महावाक्यमें तत्पद का लक्षित अर्थ ब्रह्म और त्वम्पदका लक्षित अर्थ आत्मा, अर्थात् ब्रह्म आत्मा है, परमेश्वर तू है। **पद-अर्थ-आत्मनाम् च संबंधः**—पदों का संबंध समानाधिकरण, पदों के वाच्यार्थों का संबंध विशेषण-विशेष्य तथा परमात्मा और जीवात्मा के लक्षितार्थों का संबंध लक्ष्य-लक्षकत्व कहलाता है ॥२९॥

एकत्र वृत्तिरर्थे शब्दानां भिन्नवृत्तिहेतूनाम्।
सामानाधिकरण्यं भवतीत्येवं वदन्ति लाक्षणिकाः ॥३०॥

अर्थ—भिन्न अर्थों के बताने वाले शब्दों का जब एक ही वस्तु के अर्थ में प्रयोजन हो तो उस संबंध को लाक्षणिक लोग पदों का समानाधिकरण संबंध कहते हैं।

व्याख्या--अब पदों के समानाधिकरण संबंध का निरूपण करते हैं **भिन्न वृत्तिहेतूनाम् शब्दानाम्**-- भिन्न-भिन्न अर्थों के बतानेवाले शब्दों की **एकत्र अर्थे वृत्तिः**--जब एक ही वस्तु में प्रवृत्ति होती है यानी एक ही वस्तु बताने में प्रयोजन होता है तब **सामानधिकरण्यम् भवति**--उन पदों का समान अधिकार होता है। एक ही विभक्ति वाले दो पद जब एक ही वस्तु को बतायें तो उन पदोंका संबंध समानाधिकरण होता है। जैसे 'सः अयम् द्विजः' वह यह ब्राह्मण है। 'सः' पद अतीतकाल के ब्राह्मण को बताता है 'अयम्' पद एतत्काल के ब्राह्मण को बताता है परन्तु 'सः' और 'अयम्' इन पदों का तात्पर्य एक ही ब्राह्मण को बतलाने में है। ऐसे ही 'तत् त्वम् असि' महावाक्य में तत्पद और त्वम्पद दोनों एक ही वस्तु ब्रह्म को बताते हैं। दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति एक वचन है अतः तत्पद और त्वम्पद का समानाधिकरण है। **इति एवम् लाक्षणिकाः वदन्ति**--लक्षण के जाननेवाले आचार्य इस प्रकार कहते हैं ॥३०॥

प्रत्यक्त्वपरोक्षत्वे परिपूर्णत्वं च सद्वितीयत्वम्।
इतरेतरं विरुद्धं तत इह भवितव्यमेव लक्षणया ॥३१॥

अर्थ--प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा परिपूर्णता और द्वितीयता धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं, इसलिए महावाक्य की अर्थ सिद्धि लक्षणावृत्ति से ही होनी चाहिये।

व्याख्या--प्रत्यक्त्व-परोक्षत्वे-----जीवात्मा तो प्रत्यक्ष है, सब के अनुभव में आता है, परन्तु ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं, वह जनसाधारण के अनुभव में नहीं आता। अतः तत् पद का वाच्यार्थ ईश्वर, और त्वम् पद का वाच्यार्थ जीवात्मा एक नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें विरोधी धर्म हैं। जीव की अल्पज्ञता और अल्पशक्तिमत्ता, ईश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता एक दूसरे के विरोधी हैं। अन्य विरोध भी दिखाते हैं **परिपूर्णत्वम् च सद्वितीयत्वम्**---ब्रह्म की अखण्ड पूर्णता है, वह अनन्त है, देशकालवस्तु से उसकी अनन्तता भंग नहीं हो सकती।

चकार का अर्थ है इसके विपरीत जीव में द्वैत है, जीव अनेक हैं, अन्तशील हैं **इतर-इतरम् विरुद्धम्**——वाच्यार्थ की दृष्टि से परमात्मा जीव है, परन्तु यह संभव नहीं क्योंकि परमेश्वर और जीव के धर्मों में पारस्परिक विरोध है। एक कालमें एक ही वस्तु अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष, परिपूर्ण और खण्डयुक्त नहीं हो सकती। प्रयोजन यह है कि वाच्यार्थों का जो विशेषण-विशेष्य संबंध है, उस से महावाक्य का अर्थ नहीं निकलता, क्योंकि वाच्यार्थों में विरोध है।

ततः इह भवितव्यम् एव लक्षणया——इस कारण से वाच्यार्थों के पारस्परिक विरोध से, तत् और त्वम्पदों के अर्थों में एकरसता सिद्धि के लिये लक्षणा वृत्ति का प्रयोग करना ही होगा। शब्दशक्ति से तत्त्वम्पदोंमें अखण्डैकरसता संभव नहीं, अतः लक्षणा वृत्ति का सहारा लेना ही पड़ेगा, अन्यथा छान्दोग्य की ६।२।१ श्रुतिः **'एकमेवाद्वितीम्,** ब्रह्म एक ही अद्वितीय तत्त्व है अप्रामाणिक हो जायेगी। वाक्यवृत्तिः नामक ग्रंथ में श्लोक इस प्रकार है। 'प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीत्वपूर्णता। विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ।।४६।। एक ही आत्मा में प्रत्यक्षता और परोक्षता तथा अनेकता और पूर्णता विरोधीभाव हैं, अतः शब्दशक्ति को त्याग कर लक्षणावृत्ति लगाई जाती है ।।३१।।

लक्षणावृत्ति बताते हैं।

——०——

लक्षणावृत्ति

मानान्तरोपरोधान्मुख्यार्थस्यापरिग्रहे जाते ।
मुख्याविनाकृतेऽर्थे या वृत्तिः सैव लक्षणा प्रोक्ता ॥३२॥

अर्थ——वाच्यार्थों में विरोध होने से मुख्यार्थ ग्रहण न किये जाने पर

जिस वृत्ति के प्रयोग किये विना मुख्यार्थ का बोध न हो, उस वृत्ति को लक्षणावृत्ति कहा जाता है।

व्याख्या––मानान्तर-उपरोधात् मुख्य-अर्थस्य अपरिग्रहे जाते–– पदों के दूसरे अर्थात् वाच्यार्थों में विरोध होने के कारण, वाच्यार्थों से जो ज्ञान हो उसमें विरोध होने पर, किस प्रकार ? जीव में अपरोक्षत्व, ब्रह्म में परोक्षत्व ; जीव में अनेकता, ब्रह्म में एकत्व। इस विरोध के कारण मुख्य अर्थ के ग्रहण न होने पर। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का मुख्यार्थ है 'परमेश्वर तू है।' परमेश्वर और तुम दोनों एक ही अभेद वस्तु हो। वाच्यार्थों में विरोध होने से 'परमेश्वर तू है' यह मुख्य अर्थ ग्रहण नहीं होता **मुख्य-अविनाकृते अर्थे––**ऐसी स्थिति में जिस शब्दवृत्ति के प्रयोग किये विना मुख्य अर्थ का ज्ञान न हो सके **या वृत्तिः सा एव लक्षणा प्रोक्ता–**ऐसी वह वृत्ति लक्षणा वृत्ति कही जाती है। अविनाकृत का अर्थ समझ लेना चाहिये। विनाकृत–जिस वृत्ति के प्रयोग किये विना मुख्यार्थ की प्रतीति हो वह विनाकृत, और मुख्यार्थ की प्रतीति न हो तो वह अविनाकृत, यह अभिप्राय है। शब्द के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं यथा साहित्यदर्पण (२।१०।११) में निरूपण किया है :––

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यंग्यश्चेति त्रिधा मतः।
वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।
व्यंग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः॥

शब्द की तीन प्रकार की अर्थशक्ति होती हैं। वाच्यार्थ, स्पष्ट अर्थ (express), लक्ष्यार्थ, सांकेतिक (implied) और व्यंग्यार्थ प्रस्तावित (suggested)। वाच्यार्थ वह अर्थ है जो शब्द के उच्चारणमात्र से श्रोता की बुद्धि में आजाये, यथा घट कहने से मिट्टी का गोलपेटवाला पात्र समझ में आ जाता है। लक्ष्यार्थ वह अर्थ है जिस के प्रति शब्द संकेत करे। व्यंग्यार्थ वह अर्थ है जिसको शब्द प्रस्तावित करे जैसे किसी अभद्र पुरुष को महात्मा कहना। तत्त्वमसि महावाक्य के पदों के अर्थों में, मुख्यार्थ प्राप्त करने के लिये

लक्षणावृत्ति का प्रयोग होता है, क्योंकि वाच्यार्थों की मुख्यार्थ से भिन्नता होती है ।।३२।।

लक्षणावृत्ति तीन प्रकार की होती है : जहती लक्षणा, अजहती लक्षणा तथा जहदजहती लक्षणा। अन्तिम लक्षणा को भागत्याग लक्षणा भी कहते हैं। महावाक्य के पदों के अर्थों में एकता सिद्ध करने के लिये भागत्याग लक्षणा का व्यवहार किया जाता है। अब अगले तीन श्लोकों में लक्षणा को विशद करते हैं। पहले जहती लक्षणा का निरूपण करते हैं ।।३२।।

निखिलमपि वाच्यमर्थं त्यक्त्वा वृत्तिस्तदन्वितेऽन्यार्थे ।
जहतीति लक्षणा स्याद् गङ्गायां घोषवदिह न ग्राह्या ॥३३॥

अर्थ--सारे वाच्यार्थ को छोड़ कर लक्षणावृत्ति उसके संबंधित अर्थ में लगानी पड़ती है। इसे 'जहती 'लक्षणा कहते हैं--यथा गंगा में घोषियों का ग्राम। यह वृत्ति महावाक्य के अर्थ सिद्ध करने में ग्राह्य नहीं।

व्याख्या--निखिलमपि वाच्यार्थम् त्यक्त्वा--समूचे वाच्यार्थ को छोड़कर **वृत्तिःतत्-अन्विते अन्य-अर्थे**--पद का जो अर्थ से संबंध है, उसको शब्द की वृत्ति कहते हैं। यह वृत्ति दो प्रकार की होती है : एक शक्तिवृत्ति, दूसरी लक्षणावृत्ति। शक्तिवृत्ति से पद के उच्चारण-मात्र से, विना प्रयास के अर्थबोध हो जाता है। जहाँ शक्तिवृत्ति से अर्थज्ञान न हो, वहाँ लक्षणा करनी पड़ती है।

समूचे वाच्यार्थ को छोड़ कर वाच्यार्थ के सम्बंधी अर्थ के ग्रहण करने पर **जहती इति लक्षणा स्यात्**--जहती नाम की लक्षण होती है। जहत् शब्द का अर्थ है त्यागना। इस लक्षणा में पूरे वाच्यार्थ को त्यागना पड़ता है और उस के संबंधी को ग्रहण करना पड़ता है, इस लिये इस को जहती लक्षणा कहते हैं। अब दृष्टान्त से समझाते हैं। **'गंगायाम् घोषवत्'**--गंगा में जैसे घोषियों का (दूध विक्रेताओं का)

ग्राम है। गंगा जलप्रवाह का नाम है। जलप्रवाह के बीच में ग्राम का होना असंभव है। अतः जलप्रवाहरूप वाच्यार्थ का परित्याग करके जलप्रवाहरूप वाच्यार्थ के संबंधी गंगातट की लक्षणा करनी पड़ती है, अर्थात् गंगातट पर घोषियों का ग्राम है। इस वाक्य में 'गंगा' पद 'गंगा तट' को लक्षित करता है।

न ग्राह्या—महावाक्य के अर्थ में जहती लक्षणा ग्राह्य नहीं। क्यों? 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद के वाच्यार्थ सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान परमेश्वर और त्वम्पद के वाच्यार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान जीव, इन दोनों का परित्याग करके 'तत्' पद के वाच्यार्थ की संबंधी माया और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ की संबंधी अविद्या इन दोनों की 'असि' पद से एकता सिद्ध होती है, अर्थात् 'माया अविद्या है।' सो असंगत है क्योंकि माया और अविद्या की एकता से वेदान्त का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। वेदान्त अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादक है। माया और अविद्याके सत्यत्व में वेदान्त का प्रयोजन नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जहती लक्षणा किसी प्रकार भी संभव नहीं।

'वाक्यवृत्तिः' नामक ग्रन्थ में भगवान् भाष्यकार ने इस प्रकार श्लोक लिखा है।—

'मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे।
मुख्यार्थेनाविनाभूते प्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥४७॥

वाच्यार्थ में विरोध होने पर और मुख्य अर्थ ग्रहण न होने पर जिस वृत्ति के प्रयोग किये विना मुख्यार्थ का ज्ञान न हो सके, उसे लक्षणावृत्ति कहते हैं ॥३३॥

वाच्यार्थमत्यजन्त्या यस्या वृत्तेः प्रवृत्तिरन्यार्थे।
इयमजहतीति कथिता शोणो धावतिवदत्र न ग्राह्या ॥३४॥

अर्थ—वाच्यार्थ को विना त्यागे लक्षणावृत्ति की प्रवृत्ति उसके

संबंधी अर्थ में होती है। इस वृत्ति को अजहती लक्षणा कहते हैं यथा शोण (लाल) दौड़ता है। यह वृत्ति भी महावाक्य के अर्थ सिद्ध करने में ग्राह्य नहीं हैं।

व्याख्या-- वाच्यार्थम् अत्यजन्त्या यस्याः वृत्तेः--अब अजहती लक्षणा बताते हैं। महावाक्य में इस का भी उपयोग नहीं है। जिस लक्षणा वृत्ति का वाच्यार्थ को विना त्याग किये, **प्रवृत्तिः अन्य-अर्थे**--अन्य अर्थ में अर्थात् वाच्यार्थ के संबंधी अर्थ में भी प्रवृत्ति हो **इयम् अजहती इति कथिता**--उसे अजहती लक्षणा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अजहती लक्षणा में वाच्यार्थ के संबंधी सहित वाच्यार्थ ग्रहण किया जाता है। स्मरण रहे कि जहती लक्षणा में वाच्यार्थ का त्याग किया जाता है और उसके संबंधी को ग्रहण किया जाता, परन्तु अजहती लक्षणा में वाच्यार्थ भी लिया जाता और उसका संबंधी अर्थ भी। अब दृष्टान्त से समझाते हैं **शोणो धावति वत्**--यथा 'लाल रंग दौड़ता है।' यहाँ वाच्यार्थ शोण (लाल रंग) है। शोण के दौड़ने का कोई प्रसंग नहीं वनता। अतः अहजती लक्षणा की सहायता लेनी पड़ती है। लालरंग का संबंधी घोड़ा है, अतः 'शोणो धावति' का अर्थ अजहती लक्षणा वृत्ति से लालरंगवाला घोड़ा दौड़ता है, यह अभिप्राय है।

अत्र न ग्राह्या--जैसे 'शोणो धावति' में अजहती लक्षणा' का प्रयोग हुआ है वैसे ही महावाक्य के अर्थ में अजहती लक्षणा का प्रयोग ग्राह्य नहीं। क्यों?

तत्त्वमसि' महावाक्य में तत्पद का वाच्यार्थ ईश्वर और ईश्वर की संबंधिनी माया, त्वम्पद का वाच्यार्थ जीव, और जीव की संबंधिनी अविद्या--इन दोनों की अजहती लक्षणा से एकता सिद्ध होती है, अर्थात् 'मायासहित परमेश्वर अविद्यासहित जीव है।' मायासहित परमेश्वर अविद्या सहित जीव इन दोनों की एकता करने में जीव का परमपुरुषार्थ (मोक्ष) सिद्ध नहीं होता। वेदान्तशास्त्र अद्वैत ब्रह्म के ज्ञान

से मोक्ष मानता है, ईश्वर जीव के ज्ञान से नहीं। 'अतः तत्त्वमसि' महावाक्य में अजहती लक्षणा भी असंगत है ।।३४।।

अब जहदजहती लक्षणा बताते हैं। महावाक्य में इसी लक्षणा का उपयोग है।

जहद्जहतीति सा स्याद्या वाच्यार्थैकदेशमपहाय।
बोधयति चैकदेशं सोऽयं द्विज इतिवदाश्रयेदेनाम् ॥३५॥

अर्थ––जहत्-अजहती लक्षणा उसे कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ का एक भाग तो त्यागा जाता है, और एक भाग ग्रहण किया जाता है। एक देश में एकता होती है यथा 'वह यह ब्राह्मण है।' इस वाक्य में प्रयोग की भांति महावाक्य के अर्थ सिद्धि में जहत्-अजहती लक्षणा का आश्रय ले।

व्याख्या––अब जहत् अजहती लक्षणा बताते हैं। **जहत्-अजहती इति सा स्यात्**––जहद-जहती लक्षणा वह होती है **वाच्यार्थ-एकदेशम् अपहाय**––जो वाच्यार्थ के विरोधी एक अंग को छोड़कर **बोधयति च एकदेशम्**–दूसरे अविरोधी अंगमें एकता ग्रहण करती है,बोधन करती है। जहत्-अजहत् का अर्थ है छोड़ना और ग्रहण करना अर्थात् इस लक्षणा में वाच्यार्थ के एक अंश को छोड़ते और एक को ग्रहण करते हैं। अब दृष्टान्त देते हैं। **सः अयम् द्विजः इति वत्**––'वह यह ब्राह्मण है।' इस वाक्य की भांति महावाक्य में जहदजहती लक्षणा इस लक्षणा के अनुसार वाच्यार्थ में विरुद्धांश का परित्याग करके समान अंश में एकता की जाती है, यथा 'वह यह ब्राह्मण है जिसे मैं ने वीस वर्ष पहले काशी में देखा था, और जो वर्तमान समय में कलकत्ता नगरी में हैं।' इस वाक्य में विरुद्ध अंश देश (काशी और कलकत्ता) और काल (अतीत और वर्तमान) का परित्याग कर के द्विज में एकता ग्राह्य है। इसी दृष्टान्त की भान्ति **आश्रयेत् एनाम्**––महावाक्य के तत् और त्वम् पदों के लक्ष्यार्थों में एकता की सिद्धि के लिये जहदजहती लक्षणा का

आश्रय ले। जहती लक्षणा अथवा अजहती लक्षणा का उपयोग उपयुक्त नहीं ॥३५॥

अगले दो श्लोक में इसी भाव को विस्तृत करते हैं।

सोऽयं द्विज इति वाक्यं त्यक्त्वा प्रत्यक्परोक्षदेशाद्यम्।
द्विजमात्रलक्षकत्वात्कथयत्यैक्यं पदार्थयोरुभयोः ॥३६॥
तद्वत्तत्त्वमसीति त्यक्त्वा प्रत्यक्परोक्षतादीनि।
चिद्वस्तु लक्षयित्वा बोधयति स्पष्टमसिपदेनैक्यम् ॥३७॥

अर्थ––'वह यह ब्राह्मण है' यह वाक्य प्रत्यक्षता और परोक्षता, देशादि विरोधी अर्थों को त्याग कर दोनों पदों का अर्थ द्विजमात्र की ओर लक्षणा करके एकता कहता है।

उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य पदों के प्रत्यक्षता तथा परोक्षता आदि विरोधी वाच्यार्थों को त्याग कर, चेतनवस्तु की ओर लक्षणा करके 'असि' पद से स्पष्टरूप से एकता बताता है।

व्याख्या–– **'सः अयम् द्विजः इति वाक्यम्**––पूर्व श्लोक में 'यह वह द्विज है' का उदाहरण दिया है। अब इसमें जहदजहती लक्षणा का प्रयोग करके दिखाते हैं। यह वाक्य **त्यक्त्वा प्रत्यक्-परोक्ष-देशाद्यम्**––द्विज की वर्तमानकाल कलकत्ते में प्रत्यक्षता और अतीत काल काशी में परोक्षता, आदि पद से युवावस्था और वृद्धावस्था समझना, इनको छोड़ कर **द्विजमात्रलक्षकत्वात् कथयति ऐक्यम्**–प्रत्यक्षता और परोक्षता, कलकत्ता और काशी आदि द्विजमात्र को लक्षित करके द्विज की एकता बताते हैं।

तात्पर्य यह है कि चाहे वह द्विज काशी में था चाहे कलकत्ते में है, है तो वही एक द्विज, दो द्विज तो नहीं हैं। 'सः' वह पद परोक्ष का द्योतक है और 'अयम्' यह पद प्रत्यक्ष का द्योतक है, परन्तु इन दोनों पदों का अर्थात् 'वह यही है' का लक्ष्य द्विज है। द्विज में द्वित्व नहीं है, न विरोध। 'वह' पद और 'यह'

पद इन दोनों में दूरस्थता और समीपता का विरोध है परन्तु इन दोनों का लक्ष्य एक ही द्विज है। इन दोनों विरोधी पदों का त्याग करना होगा, और द्विज मात्र में एकता ग्रहण करनी पड़ेगी। इसी को जहदजहती लक्षणा का प्रयोग कहते हैं ॥३६॥

अगले श्लोक में इस लक्षणा का महावाक्य में प्रयोग दिखा कर 'तत्' तथा 'त्वम्' पदोंकी 'असि' पद से एकता दिखाते हैं :—

तद्वत् तत्-त्वम्–असि इति––उसी प्रकार 'परमेश्वर तू है' यह वाक्य **प्रत्यक्-परोक्षादीनि त्यक्त्वा**–जीव की प्रत्यक्षता और ईश्वर की परोक्षता त्याग कर आदि पद से ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या, इन विरोधी अंशों को त्याग कर **चिद्वस्तु लक्षयित्वा**–जीव और ईश्वर के चैतन्य अंश में एकत्व लक्षित करके **असि पदेन स्पष्टम् ऐक्यम् बोधयति**–'असि' पद से, असि का अर्थ है 'है', इस पद से स्पष्ट, विवादरहित, संशयरहित एकता बोध कराता है। तात्पर्य यह है कि महावाक्य परमेश्वर और जीव की जहदजहती लक्षणा द्वारा एकता बताता है। इसी को और विशद करते हैं।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों के वाच्यार्थों में 'माया' और 'अविद्या' उपाधियाँ विरुद्ध अंश हैं। चैतन्यांश ईश्वर और जीव दोनों में समान है। ईश्वर और जीव इन दोनों के विरुद्ध अंश माया और अविद्या का परित्याग करके चैतन्य अंश में जहदजहती लक्षणा से एकता संगत है। ईश्वर में चैतन्यभाग ब्रह्म कहलाता है और जीव में चैतन्यभाग कूटस्थ साक्षी प्रत्यगात्मा कहलाता है। 'असि' पद से इनकी एकरसता सिद्ध होती है। ब्रह्म और प्रत्यक् (सर्वान्तर) आत्मा एक ही वस्तु है। संज्ञाभेद अवश्य है, परन्तु वस्तुभेद नहीं है ॥३६-३७॥

इत्थं बोधितमर्थं महता वाक्येन दर्शितैक्येन ।
अहमित्यपरोक्षयतां वेदो वेदयति वीतशोकत्वम् ॥३८॥

अर्थ--इस प्रकार महावाक्य से जीवात्मा और परमात्मा की एकता का जो अर्थ बोधित होता है वह दिखाया गया है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करने वालों के लिये वेद भगवान शोक-रहित पद बताते हैं।

व्याख्या--इत्थम्--इस प्रकार लक्षणावृत्ति से **बोधितम् अर्थम्**--बोधित अर्थ को, जीवात्मा परमात्मा की एकता को **महता वाक्येन दर्शितैक्येन**--'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा एकता दर्शित की जाने से **'अहम्' इति अपरोक्षयताम्**--वह ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार करने वालों के लिये **वेदः वीतशोकत्वम् वेदयति**--वेद भगवान शोकरहित पद बताते हैं 'तरति शोकं आत्मवित्' इति छान्दोग्यश्रुतिः ७।१।३, आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है। आत्म-दर्शन होते ही ब्रह्म के सब धर्म सच्चितानन्दरूपता ज्ञानवान में उतर आते हैं ॥३८॥

प्रायः प्रवर्तकत्वं विधिवचसां लोकवेदयोर्दृष्टम् ।
सिद्धं बोधयतोऽर्थं कथमिव तद्भवति तत्त्वमस्यादेः ॥३९॥

अर्थ--कर्तव्यसूचक वाक्यों से लोक और वेद में साधारणतः प्रवृति देखी जाती है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदमहावाक्य की, जो कि सिद्ध अर्थ को बोधन कराने वाला है, किस प्रकार कर्म में प्रवृत्ति हो सकती है।

व्याख्या--मीमांसकों का कहना है कि वेदवाक्यों का **प्रयोजन** कर्म में है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' जैमिनिसूत्र १।२।१। मीमांसा का यह प्रधान सिद्धान्त है कि वैदिक मन्त्रों का तात्पर्य विधि या कर्म के

प्रतिपादन में ही है, यथा 'स्वर्गकामो यजेत्', स्वर्ग की कामनावाला यजन करे। वेदमन्त्रों का तात्पर्य विधि बताने में ही है।

तत्त्वमस्यादि महावाक्य सिद्ध अर्थ को बताते हैं। चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म के प्रतिपादन में वेदान्त प्रमाण नहीं है, क्योंकि सिद्धवस्तु के प्रतिपादन में उपनिषदों का तात्पर्य नहीं है। वेद का कर्मकाण्ड-भाग वाक्यों के द्वारा प्रकटित किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्य को प्रगट करता है, वही प्रमाण है। मीमांसकों की दृष्टि से इस श्लोक में शंका उठाकर अगले श्लोक में उसका निवारण करते हैं।

प्रायः––साधारणतः **विधिवचसाम् प्रवर्तकत्वम्**––कर्तव्य-सूचक वाक्यों से कार्य में प्रवृत्ति, संलग्नता **लोकवेदयोः दृष्टम्**––संसार में तथा वेदों में देखी जाती है, यथा 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' दिन प्रतिदिन संध्योपासना करे, 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' नित्य हवन करे। ये वेदवाक्य कर्तव्य बताते हैं, जिसको पालन करने के लिये लोग कर्म में प्रवृत्त होते हैं, कर्म करते हैं। 'उद्यमेन विना राजन् न सिद्ध्यन्ति मनोरथाः। न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥ हे राजन्! पुरुषार्थ करने से मनोकामानायें पूरी होती हैं। क्या कहीं सोते हुए (पुरुषार्थहीन, आलसी) सिंह के मुख में उसके भोजन के लिये हिरण स्वतः प्रवेश करते हैं। इस लौकिक वाक्य में पुरुषार्थ की ओर प्रेरणा मिलती है। परन्तु हम देखते हैं कि 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य में इस प्रकार की अर्थात् क्रिया में प्रवेश कराने की कोई प्रेरणा नहीं है।

सिद्धम् बोधयतः अर्थम्––सिद्ध अर्थ को बताने वाले **तत्त्वमसि आदेः**––तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों की **कथम् इव तद्-भवति**––कर्म में प्रेरकत्व कैसे हो सकता है, अर्थात् महावाक्य में ऐसा कोई प्रयोजन नहीं प्रतीत होता जिसके कारण कि मनुष्य जीव-ब्रह्म की एकता के अनुभव के लिए यत्न करे। तात्पर्य यह है कि महावाक्य एक सिद्ध अर्थ को बताता है। 'परमेश्वर तू है'। इस महावाक्य में ऐसी कोई बात नहीं जिस कारण से पाठक ब्रह्मविद्या

की प्राप्ति में पुरुषार्थ करे। इसमें क्रिया की प्रेरणा नहीं है। किस प्रयोजन से साधक महावाक्य का जप करे? 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि न प्रवर्तते।' विना प्रयोजन के तो मूढ़ भी कार्य में नहीं लगता ॥३६॥

इस शंका का निवारण अगले श्लोक में करते हैं।

विधिरेव न प्रवृत्तिं जनयत्यभिलषितवस्तु-बोधोऽपि।
राजा याति सुतोऽभूदिति बोधेन प्रवर्तते लोकः ॥४०॥

अर्थ––केवल विधिवाक्य ही प्रवृत्ति नहीं उत्पन्न करता है, बल्कि अभिलषित वस्तु का ज्ञान भी प्रवृत्ति करता है। 'राजा जाता है', 'पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ है' इस प्रकार से बोध से लोक कर्म में प्रवृत्त होता है।

व्याख्या––पूर्व श्लोक में उठाई शंका का निवारण करते हैं।

विधिः एव न प्रवृत्तिम् जनयति––केवल विधि वाक्य ही क्रिया में प्रवृत्ति नहीं कराता है, अर्थात् अमुक कर्म करने का शास्त्र में अनुशासन है अतः वह करना चाहिये। बल्कि कर्म में प्रवृत्तिका अन्य कारण भी है, वह क्या? **अभिलषितवस्तुबोधः अपि**––अपनी चाही हुई वस्तु का ज्ञान भी कर्म में लगाता है। अब दृष्टान्त से समझाते हैं। **राजा याति**––राजा जाता है। राजा के अनुचर घोषणा करते हैं 'राजाजी की सवारी आती है, होशियार! खबरदार!' इस घोषणा को सुन कर राजा के दर्शन करने के लिये प्रजा मार्ग पर आ जाती है अथवा अट्टालिकाओं से दर्शन करते हैं। पुष्प क्षतादि बरसाते हैं। राजा के दर्शन से पुण्य होता है। राजा किसी से नहीं कहता कि तुम बाहर आवो। राजा के दर्शन से पुण्यवर्धन होता है, इस प्रिय ज्ञान से प्रजा कर्म में संलग्न होती है। दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

सुतः अभूत् इति––पुत्र ने जन्म लिया है। इस प्रिय सूचना

के बोध से लोग मोद मनाते हैं, मिठाई बाँटते हैं, महफिलें जमती हैं। जल पात्र उतार दिये जाते हैं। गायत्री जप आदि कुछ काल के लिये स्थगित कर दिया जाता है। इन विविध कर्मों में प्रवृत्ति का हेतु पुत्रजन्म है। **बोधेन प्रवर्तते लोकः**—इस प्रकार के शुभ बोध से भी लोक कर्म में प्रवृत्त होता है ॥४०॥

सद्गुरु की आवश्यकता

ऐक्यपरैः श्रुतिवाक्यैरात्मा शश्वत्प्रकाश्यमानोऽपि ।
देशिकदयाविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते पुरुषैः ॥४१॥

अर्थ—जीवात्मा और परमात्मा की एकता बताने वाले श्रुति-वाक्यों से आत्मा सदा प्रकाशित होता हुआ भी श्रीगुरुदेव की कृपा से रहित पुरुषों द्वारा साक्षात् नहीं किया जा सकता।

व्याख्या—ऐक्यपरैः श्रुतिवाक्यैः आत्मा शश्वत्-प्रकाश्यमानः अपि—जीवात्मा और परमात्मा की अखण्डैकरसता बताने वाले वेदों के महावाक्यों से सिद्ध किया जाता है, क्या? आत्मा सदा अहर्निश, बिना उदय अस्त हुए प्रकाशमान अस्ति-भाति-प्रियता रूप से प्रकाशित होता हुआ भी। आप ने तो 'तत्त्वमसि' एक ही श्रुति महावाक्य बताया, परन्तु इस श्लोक में वाक्य का बहुवचन प्रयोग किया है, अतः अन्य महावाक्य कौन से हैं? चारों वेदों के चार महा-वाक्य इस भांति हैं।

महावाक्य	वेद	उपनिषद्
(१) प्रज्ञानं ब्रह्म	ऋग्वेद	ऐतरेयोपनिषद ५।३
(२) अहं ब्रह्मास्मि	यजुर्वेद	बृहदराण्यकोपनिषद१।४।१०
(३) तत्त्वमसि	सामवेद	छान्दोग्योपनिषद ६।८।७
(४) अयमात्मा ब्रह्म	अथर्ववेद	माण्डूक्योपनिषद ।२।

श्रीगुरु 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश देता है, परन्तु श्रीगुरु और शिष्य की दृष्टिभेद से शिष्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का अभ्यास करता है। जो 'अहम्' पद का अर्थ है वही 'त्वम्' पद का अर्थ है, जो 'ब्रह्म' पद का अर्थ है वही 'तत्' पद का अर्थ है—

त्वंशब्दार्थो य आभाति सोऽहं शब्दार्थ एव हि।
योऽहं शब्दार्थ आभति स त्वं शब्दार्थ एव हि ।। ५।७६ ।।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थः साक्षात्प्रत्यक्चितिः परा।
तच्छब्दस्य च लक्ष्यार्थः सैव नात्र विचारणा ।।५।७७।।

ब्रह्मगीता

जो त्वम्पद का अर्थ प्रतीत होता है वही अहम्पद का अर्थ है। जो अहम्पद का अर्थ प्रतीत होता है, वही त्वम्पद का अर्थ है। त्व-महम्पद का लक्ष्यार्थ चेतन प्रत्यगात्मा है और तत्पद का भी वही लक्ष्यार्थ है। यहाँ संशय नहीं करना चाहिये।

इन महावाक्यों के अर्थ सिद्ध होने पर अर्थात् निर्विकल्प समाधि में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर ही आत्मा सर्वत्र, सर्वकाल, सर्वावस्था में प्रकाशित होता है, परोक्ष-ज्ञानियों को नहीं। स्वामी शिवबोधाश्रम जी महाराज दंडी परोक्षज्ञानियों को हास्य में 'वाचकज्ञानी' कहा करते हैं। तात्पर्य यह है कि महा-वाक्य के अर्थ को अनुभव से जानने वाले अत्यन्त विरले पुरुष हैं, परोक्षज्ञानी तो बहुत मिल जाते हैं। परोक्षज्ञानी वास्तव में ब्रह्म-वेत्ता कहलाने का अधिकारी नहीं, उपाधियों से छुटकारा पाना हंसी खेल नहीं है। 'प्रेमपयोधि में धंसि कर हंसिकर कढ़िबो हंसि खेल नहीं है।' महान् से भी महान् पुण्यों के उदय होने पर ही महावाक्य के अर्थ का साक्षात्कार होता है।

देशिकदयाविहीनैः पुरुषैः अपरोक्षयितुम् न शक्यते—सदा देदीप्यमान आत्मा सद्गुरु की कृपा से रहित पुरुषों द्वारा साक्षात् नहीं किया जा सकता। देशिक दया क्या होती है? श्रीगुरु द्वारा

ब्रह्मविद्या का उपदेश तथा साधना में मार्गदर्शन कराना ही श्रीगुरुकृपा कहलाती है।

श्रीगुरुदेव ने मुझे जो 'गुरुकृपा' बताई थी, उसी को साधकों के हित के लिये ज्यों का त्यों लिखता हूँ।

श्रीगुरुदेव का उपदेशामृत
२१-५-५६, दिल्ली

'ज्ञानमुपपद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।' पापकर्म क्षय हो जाने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। यह नियम है। भगवती की कृपा से तुम्हारे पाप नष्ट हो चुके हैं। युक्तिमात्र से संसार का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता। श्रवण को मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा है। वे युक्तियां मेरे पास हैं। अब की बार जब मेरे समक्ष होगे तो समझ में आ जायेंगी।

आत्मा का आभास जाग्रत् है।
जाग्रत् का आभास स्वप्न है।
स्वप्न का आभास सुषुप्ति है।

आत्मा का आभासरूप किञ्चन (झलक) है। सामने की आलमारी के दर्पण में देखिये। ज्यों के त्यों आप आभासते हैं, पर वह आभास (image) आप में किसी प्रकार की न वृद्धि करता है, न हानि। ऐसे ही सच्चिदानन्द परिपूर्ण परमात्मा आप का स्वरूप है। अवस्थात्रय आप का किञ्चन है जिससे आप को न कोई लाभ है न हानि।

ऐसा जान कर अपने कूटस्थ स्वरूप में स्थिर रहो। तुम क्रिया-रहित अचल वस्तु हो। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, चन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, सूर्य, अग्नि, वायु आदि देवता सच्चिदानन्द महासागर में बुद्बुदे हैं। अधिक क्या, माया और माया का रचा विश्व भी तरंग और बुद्बुदे ही हैं। यह तुम्हारे विचार के निमित्त प्रतिपादन किया

है। वस्तुतः तो यह सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण ब्रह्म स्वमहिमा में एकरस स्थित है। द्वितीय वस्तु होना किसी प्रकार संभव नहीं। यह निरन्तर चिन्तन करना निदिध्यासन है। यही उपदेश गुरुकृपा है।' इति ।।४१।।

विरहित-काम्य-निषिद्धो विहितानुष्ठाननिर्मलस्वान्तः ।
भजति निजमेव बोधं गुरुणा किमिति त्वया न मन्तव्यम् ॥४२॥

अर्थ––'जो काम्य और निषिद्ध कर्म नहीं करता है और जिस का अन्तःकरण नित्य कर्म के अनुष्ठान से शुद्ध हो गया है, वह स्वयमेव आत्मज्ञान को प्राप्त हो जायेगा। ज्ञानदान में गुरु की क्या आवश्यकता है।' इस प्रकार तुझे नहीं मानना चाहिये।

व्याख्या––विरहित-काम्य-निषिद्धः विहित-अनुष्ठाननिर्मलस्वान्तः–श्रीगुरु कहते हैं––हे शिष्य तू यह नहीं सोचना कि जो साधक काम्य–जो धर्मानुष्ठान स्त्री-पुत्र-स्वर्गादि फलविशेष की इच्छा से किये जायें उन्हें काम्यकर्म कहते हैं। शास्त्रविरुद्ध कर्म जैसे चोरी, हिंसा, असत्यभाषणादि निषिद्धकर्म कहलाते हैं। जो काम्य और निषिद्ध-कर्म न करता हो, और शास्त्र विहित नित्य कर्म करता हो। नित्यकर्म कौन से हैं? 'सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्। वैश्वदेवं तथाऽतिथ्यं षट्कर्माणि दिने दिने ।।२।७।। बृहत्पाराशरस्मृति। सन्ध्या (इसमें तर्पण भी सम्मिलित) स्नानं, जप (इसमें स्वाध्याय होम भी समझने चाहियें) देवताओं का पूजन, वैश्वदेव वलि, अतिथिसत्कार-ये षट्कर्म कहलाते हैं। ये प्रतिदिन करने चाहियें। इन नित्यकर्मों के आचरण से निर्मल, शुद्ध अन्तःकरणवाला **भजति निजम् एव बोधम्**––अपने ज्ञानस्वरूप का ही भजन करता है, अर्थात् उसको स्वतः ही बोध होता है **गुरुणा किम् इति**––इसमें गुरुका क्या निहोरा। प्रयोजन यह है कि काम्य और दुष्कर्मों को त्याग कर नित्य कर्म करने से बोध अपने आप होता है, गुरु की आवश्यकता नहीं। **त्वया न मन्तव्यम्**––

इस प्रकार तुझे नहीं मानना चाहिये ।।४२।। अगले श्लोक में इस का कारण बताते हैं ।

कर्मभिरेव न बोधः प्रभवति गुरुणा विना दयानिधिना ।
आचार्यवान्हि पुरुषो वेदेत्यर्थस्य वेदसिद्धत्वात् ॥४३॥

अर्थ––कर्मों के अनुष्ठान से ज्ञान नहीं होता। दयासागर गुरु की कृपा के विना ज्ञान नहीं होता, क्योंकि 'आचार्यवान पुरुष को ही ज्ञान होता है।' इस अर्थ वाली श्रुति की वेद में प्रसिद्धि है।

व्याख्या––कर्मभिः एव न बोधः प्रभवति––नित्यकर्मों से, स्ववर्णाश्रमधर्म-कर्मानुष्ठानमात्र से आत्मज्ञान स्व-स्वरूपबोध नहीं होता, तो क्या होता है? अन्तःकरण की शुद्धि जिस के फलस्वरूप ज्ञान के साधन प्राप्त होते हैं, ज्ञान नहीं। कर्म से ज्ञान क्यों नहीं होता? कर्म अज्ञान से उत्पन्न है, अतः अज्ञान का कार्य होने से कर्म अज्ञान का नाश नहीं कर सकता। 'नाज्ञानहानि र्न हि रागसंक्षयो, भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्। ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता, तस्माद् बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत् ।।१८।। श्रीरामगीता, कर्म से अज्ञान का नाश नहीं, और न ही उससे आसक्ति की हानि होती है, बल्कि उससे नूतन बंधनकारी कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म से फिर संसार की भी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये मुमुक्षु ज्ञानविषय पर विचार करे। **गुरुणा विना दयानिधिना**––दयासागर गुरु के उपदेशामृत के विना ज्ञान नहीं होता।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि गुरु वही है जिसने स्वयं आत्मसाक्षात्कार कर लिया हो, ऐसा गुरु सद्गुरु कहलाता है। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के उपदेश से ही शिष्य को आत्मलाभ होता है। वाचकज्ञानियों के उपदेश से आत्मदर्शन नहीं

हो सकते वाचकज्ञानियों को बोध का अहंकारमात्र हो जाता है, विना बोध हुए ही। इसके समर्थन में श्रुति प्रमाण देते हैं **हि 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति अर्थस्य वेदसिद्धत्वात्**—क्योंकि जिस पुरुष के गुरु होता है वही ब्रह्म को जान सकता है। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' यह छान्दोग्योपनिषद की ६।१४।२ श्रुति है। इस अर्थ की वेद में प्रसिद्धि है, अर्थात् गुरु के विना ज्ञान नहीं होता, इस उक्ति के पक्ष में प्रसिद्ध वेद प्रमाण है। अतः यह यथार्थ बात है। हे शिष्य ! तू कर्म के ज्ञानोत्पादक सामर्थ्य में विश्वास न रख। सद्गुरु की दया ज्ञानसाधना में अनिवार्य है। इसमें ब्रह्माण्ड पुराण का प्रमाण देते हैं :—

यः प्रसन्नः क्षणार्धेन मोक्षलक्ष्मीं प्रयच्छति।
दुर्लभं तं विजानीयाद् गुरुं संसारतारकम् ।।३९।३६।
मनुष्यचर्मणा बद्धः साक्षात्परशिवः स्वयम्।
सच्छिष्यानुग्रहार्थाय गूढं पर्यटति क्षितौ ।।३९।६९।।
सद्भक्तरक्षणायैव निराकारोऽपि साकृतिः।
शिवः कृपानिधिर्लोके संसारीव हि चेष्टते ।।३९।७०।।
अत्रिनेत्रः शिवः साक्षादचतुर्बाहुरच्युतः।
अचतुर्वदनो ब्रह्मा श्रीगुरुः परिकीर्तितः ।।३९।७१।।

जो प्रसन्न होकर आधे क्षण में मोक्षविद्या दे देता है, संसार से पार उतारनेवाले उस सद्गुरु को दुर्लभ जाने ।।३६। मनुष्यचर्म से मंढा हुआ वह गुरु साक्षात् शिव ही होता है। वह सच्चे शिष्य पर कृपा करने के लिये गुप्तरूप से वसुधा पर भ्रमण करता है।६९। सद्भक्तों की रक्षा के लिये निराकार होता हुआ भी वह कृपानिधि शिव गुरुरूप से साकार हो कर संसारी प्राणियों की भांति चेष्टा करता है ।।७०।। विना तीननेत्रों का शिव, विना चारभुजाओं का विष्णु तथा विना चारमुखवाला ब्रह्मा श्रीगुरु को कहा जाता है ।।७१।——।।४३।।

वेदप्रमाण की मान्यता

वेदोऽ नादितया वा यद्वा परमेश्वरप्रणीततया ।
भवति परमं प्रमाणं बाधो नास्ति स्वतश्च परतो वा ॥४४॥

अर्थ–वेद अनादि होने से अथवा परमेश्वर से अभिव्यक्त किया जाने से परम प्रमाण माना जाता है। इस प्रमाण का बाध अपने से अथवा दूसरे से नहीं हो सकता।

व्याख्या––वेद की सर्वोपरि प्रामाणिकता बताते हैं। **वेदः अनादितया वा यद्वा परमेश्वरप्रणीततया भवति परमं प्रमाणम्**–वेद भगवान्, उपनिषदें, ब्रह्मविद्या के मूल स्रोत, अनादि होने से, उत्पत्ति-रहित होने से अथवा परमेश्वर द्वारा अभिव्यक्त किये जाने से सर्वश्रेष्ठ, प्रमाण गिना जाता है। प्रणीत का अर्थ है, परमात्मा के समीप अभिव्यक्ति, न कि परमात्मा द्वारा बुद्धि से विरचित वेद। वेद विरुद्ध प्रमाण अमान्य होता है। वेद अनुभवशास्त्र होने से, और परमेश्वर सर्वज्ञ होने से कभी भूल नहीं कर सकते, अतः वेदवचन सर्वोपरि विराजते हैं।

बाधः न अस्ति स्वतः च परतः वा––वेद प्रमाण का निराकरण अनुभवसे, अपने आपसे नहीं हो सकता, अर्थात् वेदवचनोंमें विरोध नहीं है। एक वेदप्रमाण दूसरे को नहीं काटता। वेदों का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादन करने में है, जहाँ द्वैतपरक से वचन मिलते भी हैं, उनका प्रयोजन केवल अद्वैत समझाने के लिये है। न अन्य शास्त्रों के, तन्त्रादिकों के प्रमाणों से वेदप्रमाण वाधित हो सकता है। वेदप्रमाण, अनुभव ज्ञान होने से, बाध नहीं हो सकता। प्रत्यक्षादि प्रमाणों का आश्रय लेने वाला तर्क वेदप्रमाण को वाधित नहीं कर सकता।

'यदा साऽनादिभूतैव तदा मानमतीव सा।
स्वतश्च परतो दोषो नास्ति यस्माद् द्विजर्षभाः। सूत गीता ३।८।
चूँकि श्रुति अनादिभूता है, इसलिए वह अत्यन्त प्रामाणिक है,

सलिं, हे जश्रेष्ठो ! श्रुति में स्वरूप से भी दोष नहीं है और न ही परतः अर्थात् अपौरुषेय होने से मनुष्यों की बद्धि में जो दोष होते हैं वे श्रुति में प्रविष्ट नहीं कर सके हैं।

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा'

स्वयंभू से उत्पन्न वेदों की वाणी अनादि अमर नित्य है। मीमांसकों के मत में वेद अपौरषेय हैं, और नैयायिकों के मत में वेद सर्वज्ञेश्वर से प्रणीत हैं, अतः उनको प्रामाणिक माना जाता है।

स्वतः दोषो न वेदस्य विद्यते सूक्ष्मदर्शने ।३।६
परतोऽपि न दोषोऽस्ति परस्याभावतः द्विजाः ।। ३।१०।
(सूतसंहिता)

हे ब्राह्मणो ! वेद वचन स्वतः निर्दोष हैं। शंका-वेदों में कर्म-काण्ड को काटनेवाले ज्ञानवचन होने से उनमें स्वाभाविक विरोध है। समाधान--सूक्ष्मता से देखने से नहीं। जहाँ ऊपर से विरोध भी भासता हो, तो उनका अधिकारीभेद से कहा जाना समझना, वास्तव में विरोध नहीं है दूसरे के अभाव होने से ।।४४।।

नापेक्षते यदन्यद्यदपेक्षन्तेऽखिलानि मानानि ।
वाक्य तन्निगमानां मानं ब्रह्माद्यतीन्द्रियावगतौ ।।४५।।

अर्थ--वेद प्रमाण अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, परन्तु दूसरे सब प्रमाण अपनी पुष्टि में वेदप्रमाण की अपेक्षा करते हैं। वेदों का वाक्य ब्रह्मादि अतीन्द्रिय तत्त्वों के जानने में प्रमाण है।

व्याख्या--न अपेक्षते यत् अन्यत्--वेद प्रमाण अन्य यानी स्मृति, पुराण, तंत्रादि के प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि वेदप्रमाण सर्वोपरि प्रमाण होता है 'भवति परमं प्रमाणम्' **यत् अपेक्षन्तेऽखिलानि मानानि**--परन्तु जिस वेदप्रमाण की अन्य सब प्रकार के प्रमाण अपेक्षा करते हैं यानी अपनी प्रमाणिकता की सिद्धि के लिये वेदप्रमाण

का समर्थन चाहते हैं, क्योंकि वेदविरुद्ध होने से वे अमान्य हो जाते हैं। **वाक्यम् तत् निगमानाम् मानम्**——ऐसा वेदोंका वाक्य प्रमाण कहाता है, वही प्रमाण **ब्रह्म-आदि-अतीन्द्रिय-अवगतौ**——ब्रह्मतत्त्व, आदिपद से अव्यक्तनाम्नी माया, जो कि इन्द्रियों से अग्राह्य है, के ज्ञान के लिये है। प्रयोजन यह है कि ब्रह्मतत्त्व मन इन्द्रियों से ग्राह्य हैं नहीं, अतः इस का ज्ञान विना वेदप्रमाण के अन्य किसी प्रकार हो ही नहीं सकता, क्योंकि मन बुद्धि इन्द्रियादि ज्ञान-साधन उस को नहीं जान सकते। 'अतीन्द्रियार्थविज्ञाने मानं नः श्रुतिरेवहि।' सूतसंहिता ३।५। जो विषय इन्द्रियों से अग्राह्य हैं, उनके जानने में श्रुति ही प्रमाण है ।।४५।।

मानं प्रबोधयन्तं बोधं मानेन ये बुभुत्सन्ते ।
एधोभिरेव दहनं दग्धुं वाञ्छन्ति ते महात्मानः ॥४६॥

अर्थ——अन्य प्रमाण को प्रकाशित करने वाले ब्रह्मतत्त्व को जो प्रमाण से जानना चाहते हैं, वे महात्मा मानो इंधन से ही अग्नि को दग्ध करना चाहते हैं।

व्याख्या——**मानम् प्रबोधयन्तम् बोधम्**——जिस ब्रह्म के प्रकाश से अन्य प्रमाणसमुदाय प्रकाशित होता है, उस ब्रह्मतत्त्व को **ये मानेन बुभुत्सन्ते**—जो मूढ़ लोग अन्य प्रमाण से जानना चाहते हैं **ते महात्मानः**—वे महात्मा, यहाँ महात्मा व्यंग्य से कहा है, वे स्थूलबुद्धि, मूढ़, गंवार मानो **एधोभिः एव**——इंधन से ही **दहनम् दग्धुम् वाञ्छन्ति**——अग्नि को जलाना चाहते हैं।

वेदशास्त्र पुराणानि भूतानि सकलान्यपि ।
येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ।।९।।

आत्मोपनिषद्

वेद, स्मृतिशास्त्र, पुराण और समस्तभूतमात्र जिससे

अर्थवान हो रहे हैं, उस सर्व के जानने वाले परमात्मा को क्या वे प्रकाशित कर सकते हैं? अत्र हेतु। 'एष स्वयंज्योतिः', यह परमात्मा स्वयंप्रकाश है, समस्त प्रमाण इसी के प्रकाश से प्रकाशित हैं, वे स्वयं पर-प्रकाश्य हैं ॥४६॥

वेदोऽ नादिरमुष्य व्यंजक ईशः स्वयंप्रकाशात्मा।
तदभिव्यक्तिमुदीक्ष्य प्रोक्तोऽ सूरिभिः प्रणीत इति ॥४७॥

अर्थ––वेद अनादि है, स्वयंप्रकाशात्मा ईश्वर इस का अभिव्यञ्जक है। वेदके प्रगट होने को देख कर विद्वान लोग वेद को ईश्वर प्रणीत कहते हैं।

व्याख्या––वेद का अनादित्व तथा प्रणीत होना बताते हैं। **वेदः अनादिः अमुष्य व्यञ्जकः ईशः स्वयंप्रकाशात्मा**–– वेद का ज्ञान अनादि है, इस को व्यक्त करने वाला ईश्वर स्वयंज्योति आत्मा ही है। 'वेदोऽअनादिः शिवस्तस्य व्यञ्जकः परमार्थतः'। सूतगीता ३।२१। परमार्थ दृष्टि से तो वेद आदिरहित नित्य हैं। ईश्वर उसका अभिव्यंजक है, स्वबुद्धि से रचयिता नहीं।

नैयायिकों के मत में वेद नित्य नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति कही गई है 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वस्तिमेतद्यदृग्वेदः' बृ० २।४।१० यह ऋग्वेद इस मायोपहित ब्रह्मका निःश्वास है। 'ऋचः सामानि जज्ञिरे तस्मात्' इति पुरुषसूक्त। उस पुरुष से ऋचा, सामवेद उत्पन्न हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु की अभिव्यक्ति होते ही उस का अनादित्व समाप्त हो जाता है, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं **तद्-अभिव्यक्तिम् उदीक्ष्य प्रोक्तः असौ सूरिभिः प्रणीतः इति**––वेद भगवान् के प्रकट होने को दृष्टि में रख कर विद्वानों ने वेदों को ईश्वरप्रणीत कहा है। वास्तव में वेदज्ञान-अनादि एकरस ही रहता है। 'अभिव्यक्तिमपेक्ष्यैव प्रणेतेत्युच्यते शिवः'। सूतसंहिता

३।२२। वेदों की यथावस्थिता अभिव्यंजना की अपेक्षा से शिव (ईश्वर) को वेद का प्रणेता व्यवहार में कहा जाता है।

रूपाणामवलोके चक्षुरिवान्यन्न कारणं दृष्टम्।
तद्वददृष्टावगतौ वेदवदन्यो न वेदको हेतुः ॥४८॥

अर्थ––रूपवान विषयों के अवलोकन में चक्षु इन्द्रिय सदृश अन्य ज्ञानसाधन नहीं देखा जाता। उसी प्रकार अतीन्द्रिय ब्रह्म की अनुभूति में वेद के सदृश अन्य ज्ञान का साधन नहीं है।

व्याख्या–रूपाणाम् अवलोके चक्षुः इव–विविध लौकिक रूपों के देखने में नेत्र जैसा **अन्यत् न कारणम् दृष्टम्**––दूसरा कोई साधन नहीं देखा गया है। कान से रूप नहीं देखा जा सकता। **तद्वत् अदृष्ट-अवगतौ वेदवत्**–उसी प्रकार मन बुद्धि इन्द्रियों से अगोचर ब्रह्मतत्त्व के जानने में वेद की भाँति **न वेदकः हेतुः**–अन्य कोई ज्ञानसाधन नहीं है। उपनिषदों में ही ब्रह्मज्ञान की सम्पूर्ण और मौलिक सामग्री उपलब्ध है

रूपावलोकने चक्षुर्यथाऽ साधारणं भवेत्।
तथाधर्मादिविज्ञाने वेदोऽसाधारणः परः ।।सूतसंहिता ३।३३

जैसे रूपदर्शन में चक्षु इन्द्रिय ही असाधारण कारण है, वैसे ही धर्म, ब्रह्मादिविज्ञान में वेद ही असाधारण परम प्रमाण है। तन्त्रों में भी तो ब्रह्मज्ञान है, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं ।।४८।।

निगमेषु निश्चितार्थं तन्त्रे कश्चिद्यदि प्रकाशयति।
तदिदमनुवादमात्रं प्रामाण्यं तस्य सिध्यति न किंचित् ॥४९॥

अर्थ––वेदों में ब्रह्मनिरूपण निश्चित है। तन्त्र में यदि ब्रह्म-विद्या कहीं प्रकाशित है, तो वह वेदों के ज्ञान का अनुवादमात्र (छाया-

मात्र है)। तन्त्र की ब्रह्मविद्या के संबंध में कुछ भी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या--निगमेषु निश्चितार्थम्--वेदके अन्तिम भाग उपनिषदों में निर्णीत अर्थ, ज्ञातव्यवस्तु, ब्रह्म तत्त्व पूर्णता से प्रकाशित है, परन्तु **तन्त्रे कश्चित् यदि प्रकाशयति तत् इदम् अनुवादमात्रम्**--ब्रह्म तत्त्व के संबंध में तन्त्रशास्त्रों में यदि कहीं प्रकाश है, अर्थात् ब्रह्मविद्या निरूपित है, तो वह केवल वेदों की छायामात्रा है, अर्थात् मौलिक नहीं है, जो वेदोंमें कहा गया है, उसीको तन्त्र शास्त्रोंमें अनुवादरूपसे कहा गया है यानी नयेशब्दोंमेंकह दिया है। अतः **प्रामाण्यम् तस्य न सिध्यति किंचित्**--तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता किंचित् भी सिद्ध नहीं होती।

'यथा भागीरथीतुल्या नदी नास्ति श्रुतौस्मृतौ।
तथा वैदिकतुल्यस्तु नास्ति तन्त्रावलम्बिषु ।।८।५४।।'
(सूतसंहिता, सूतगीता)

जैसे श्रुति स्मृति प्रमाण से गंगा के तुल्य अन्य नदी नहीं है वैसे ही ब्रह्मज्ञान के लिये वैदिकशास्त्रों के समान तन्त्रों के अवलम्बन करने वालों के पास साधान सामग्री नहीं है।

'तान्त्रिकाणां शरीरे तु देवताः सकला अमूः।
वर्तन्ते न प्रकाशन्ते द्विजेन्द्राः शुद्धयभावतः ।।७।२६।।'
(सूतसंहिता, सूतगीता)

तान्त्रिकों के शरीर में सब देवता निवास करते हैं, परन्तु हे मुनीन्द्रो! शुद्धि के अभाव के कारण स्पष्ट प्रकाशित नहीं होते।

श्रुतिपथगलितानां मानुषाणां तु तन्त्रम्।
हरिरपि मुनिमुख्या प्राह तन्त्रे स्वकीये ।।८।२७।।

(सूतसंहिता, सूतगीता)

हे मुनिपुंगवो ! श्रुतिमार्ग से पतित मनुष्यों के लिये तन्त्र है।' भगवान् वष्णु ने भी अपने तंत्र में कहा है ।।४६।।

आपने बताया कि वेदों के प्रमाण के समक्ष तन्त्रशास्त्रों के प्रमाण की गौणता है, परन्तु वेदों में तो द्वैत सिद्ध करनेवाली और अद्वैत सिद्ध करने वाली दोनों प्रकार की श्रुतियाँ हैं। अत: किनको यथार्थ माना जाये। इस शंका को दृष्टि में रखकर अगले श्लोक में कहते हैं।

वेदों का तात्पर्य अद्वैत प्रतिपादन में है।

अंशद्वयवति निगमे साधयति द्वैतमेव कोऽप्यंशः।
अद्वैतमेव वस्तु प्रतिपादयति सिद्धमपरोंऽशः ॥५०॥
अद्वैतमेव सत्यं तस्मिन्द्वैतं न सत्यमध्यस्तम् ।
रजतमिव शुक्तिकायां मृगतृष्णायामिवोदकस्फुरणम् ॥५१॥

अर्थ--वेद में दो अंश हैं। उनमें एक गौण अंश द्वैत को ही सिद्ध करता है। परन्तु दूसरा प्रमुख अंश अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है, द्वैत सत्य नहीं है क्योंकि द्वैत तो अद्वैत ब्रह्म में अध्यस्त है यथा सीपी में चांदी की एवं मृगतृष्णा नदी में जल की स्फुरणा।

व्याख्या--अंशद्वयवति निगमे--वेद में दो अंश, भाग हैं, इन दोनों में से **साधयति द्वैतम् एव कः अपि अंशः**--कोई एक गौण निर्बल अंश द्वैत को ही सिद्ध करता है, परन्तु **अद्वैतम् एव प्रतिपादयति प्रसिद्धम् अपरः अंशः**--दूसरा मुख्य प्रवल अंश प्रसिद्ध, अद्वैतब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है, अत: अद्वैतब्रह्म ही सत्य है। इसी भाव को सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड के ३६ वें अध्याय में दिया है--

अथातः संप्रवक्ष्यामि समासेन न विस्तरात् ।
अविरोधं तु वेदानामशेषाणां मुनीश्वराः ।।१।।

द्विविधो वेदराशिस्तु मुनयः संशितव्रताः ।
सत्याद्वैतपरः कश्चिद्वेदभागः समासतः ॥२॥

अब मैं संक्षेप से, विस्तार से नहीं, कहता हूँ। हे मुनीश्वरो, समस्त वेदों में विरोध कहीं नहीं है। हे पुण्यव्रतधारी मुनियो ! वेदराशि दो भांति की है। एक मुख्य भाग तो संक्षेप में सत्य अद्वैत-परक है। (इन से अगले श्लोक भी व्याख्या के अन्त में उद्धृत किये हैं) ॥५०॥

कुछ वैशेषिक आदि आचार्य द्वैत को ही सत्य कहते हैं। सूतसंहितान्तर्गत ब्रह्मगीता में इस पक्ष को हेयदृष्टि से देखा है। 'द्वैतमेव हि सर्वत्र प्रवदन्ति हि केचन। न ते मनुष्याः कीटाश्च पतङ्गाश्च घटा हि ते ॥६॥४७॥ कुछ लोग द्वैत (भेद) को ही परमार्थ कहते हैं। ऐसा कहनेवाले मनुष्य नहीं हैं, वे तो कीट पतंग और जड़ मिट्टी के घट के तुल्य हैं।

अद्वैतम् एव सत्यम्--अद्वैत ब्रह्म ही सत्य है, त्रिकालाबाध्य है। 'एकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्य श्रुतिः ६।२।१, ब्रह्म एकही अद्वितीय तत्त्व है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' इति तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।' ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त है। **द्वैतम् न सत्यम्**--यह दृश्य प्रपंच सत्य नहीं है, अर्थात् त्रिकालाबाध्य नहीं है। स्वप्नावस्था में जाग्रत् संसार का बाध हो जाता है और सुषुप्ति में जाग्रत और स्वप्न दोनों का लय हो जाता है। द्वैत कहाँ से आया ? बताते हैं **अध्यस्तम्**--अद्वैत ब्रह्म में सकल दृश्य जगत् आरोपित है, अतः मिथ्या है। अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से भिन्न नहीं होती-यह सिद्धान्त है।

अब दो दृष्टान्तों से समझाते हैं **रजतम् इव शुक्तिकायाम्**--जैसे दूर पड़ी सीपी चांदी जैसी चमकती है, और चांदी की भ्रान्ति उत्पन्न करती है। सीपी में रजत की भ्रन्ति की भांति ब्रह्म में जगत् अध्यस्त है। दूसरा दृष्टान्त देते हैं।

मृगतृष्णायाम् इव उदकस्फुरणम्——मृगमरीचिका में जैसे जल का आभास, वैसे ही ब्रह्म में जगत्की स्फुरणा है। सूर्य की प्रचंड किरणों से संतप्त मरुभूमि के स्पर्श से वायु जलनदी सी भासती है, वास्तव में उस में जल नहीं होता, वह मिथ्या स्फुरणा होती है।

इसी भावको सूतसंहिता के यज्ञवैभव खंड के ३६ वें अध्याय में दिया है।

कल्पितद्वैतनिष्ठस्तु वेदभागोऽपरस्तथा।
सत्यमेव सदाऽद्वैतमसत्यं द्वैतमास्तिकाः ॥३॥
द्वैतस्यापि च सत्यत्वं वर्णयन्तीह केचन।
तदसंगतमध्यस्तं द्वैतं यस्मात्परात्मनि ॥४॥

और दूसरे वेदभाग में द्वैतनिष्ठा की कल्पना की गई है। हे आस्तिक मुनीश्वरो! अद्वैत ब्रह्म सर्वकाल में सत्य है, और द्वैत मिथ्या है। कुछ लोग द्वैत की सत्यता का भी वर्णन करते हैं, परन्तु वह असंगत है, क्योंकि द्वैत तो अद्वैत ब्रह्म में आरोपित, कल्पित है ॥५१॥

आरोपितं यदि स्यादद्वैतं वस्त्ववस्तुनि द्वैते।
तदयुक्तमेव यस्मात्सत्येऽध्यासो भवत्यसत्यानाम् ॥५२॥

अर्थ——यदि भावरूप अद्वैत को अभावरूप द्वैत में आरोपित माना जाये तो वह उचित नहीं, क्योंकि असत्यवस्तुओंका अध्यास (आरोपण) सत्य वस्तु में ही हो सकता है।

व्याख्या——अब शंका उठाते हैं। **आरोपितम् यदि स्यात् अद्वैतम् वस्तु अवस्तुनि द्वैते**——यदि भावरूप अद्वैत तत्त्व अभावरूप द्वैत में आरोपित माना जाये तो **तत् अयुक्तम् एव**——ऐसी शंका उचित नहीं, **यस्मात् सत्ये अध्यासः भवति असत्यानाम्**——क्योंकि सत्य वस्तु में

ही अर्थात् अधिष्ठान में ही मिथ्या वस्तुओं का आरोपण हो सकता है, यथा रस्सी में सर्प का। जो स्वयं अवस्तु हो वह किसी का अधिष्ठान नहीं बन सकती, यह सिद्धान्त है ॥५२॥

यद्यारोपणमुभो स्तद् व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदभावात् ।
आरोपणं न शून्ये तस्मादद्वैतसत्यता ग्राह्या ॥५३॥

अर्थ––यदि सत् असत् दोनों का आरोपण किसी अन्य में माना जाये तो, सत्-असत् से भिन्न किसी भी वस्तु का अभाव होने से शून्य में आरोपण नहीं हो सकता। अतः अद्वैत की सत्यता ग्रहण करनी चाहिये।

व्याख्या––अब पुनः शंका उठाते हैं। **यदि आरोपणम् उभयोः तत् व्यतिरिक्तस्य**––यदि यह कहा जाये कि अद्वैत वस्तु और द्वैत वस्तु इन दोनों का ही आरोपण अन्य किसी वस्तु में है, तो **कस्यचित् अभावात् आरोपणम् न शून्ये**––सत्-असत् से भिन्न किसी भी वस्तु का अभाव होने से शून्य में आरोपण नहीं हो सकता अर्थात् शून्य किसीका भी अधिष्ठान नहीं बन सकता है। मिथ्या उसे कहते हैं, जिस की प्रतीति तो हो परन्तु जो वास्तव में न हो यथा स्वप्नसृष्टि। शून्य उसे कहते हैं जिस की प्रतीति भी न हो और जो हो भी नहीं। सत्य उसे कहते हैं जिसकी सत्ता सर्वदा तीन काल में ज्यों की त्यों रहे। **तस्मात् अद्वैतसत्यता ग्राह्या**––इस लिये अद्वैत की सत्यता, अविनाशिता, त्रिकालाबाध्यसत्ता ग्रहण कर लेनी चाहिये ॥५३॥

प्रत्यक्षाद्यनवगतं श्रुत्या प्रतिपादनीयमद्वैतम् ।
द्वैतं न प्रतिपाद्यं तस्य स्वत एव लोकसिद्धत्वात् ॥५४॥

अर्थ––प्रत्यक्ष-अनुमान प्रमाणों से अज्ञात होने के कारण श्रुति

भगवती ने अद्वैत का प्रतिपादन किया है। श्रुति द्वारा द्वैत का प्रतिपादन नहीं हुआ है, क्योंकि द्वैत तो स्वयं ही लोक प्रसिद्ध है।

व्याख्या––श्रुति भगवती ने अद्वैत का मुख्यतः क्यों प्रतिपादन किया है, द्वैत का क्यों नहीं, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं **प्रत्यक्षादि-अनवगतम् श्रुत्या प्रतिपादनीयम् अद्वैतम्**––ज्ञान के प्रत्यक्ष साधनों से, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, घ्राणादि इन्द्रियों से तथा मन बुद्धि से, आदि पद से अनुमान प्रमाण से ब्रह्म अग्राह्य होने के कारण श्रुति द्वारा अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन किया ही जाना चाहिये, अन्यथा श्रुति-प्रमाण के अभाव में ब्रह्मज्ञान का कोई साधन ही नहीं रहता और मोक्ष का अप्रसंग हो जाता। **द्वैतम् न प्रतिपाद्यम्**––द्वैत, दृश्य जगत् की, आकाश से लेकर स्थूलपर्यन्त प्रपंच के विशेष प्रतिपादन की कोई आवश्यकता नहीं है, **तस्य स्वतः एव लोकसिद्धत्वात्**––क्योंकि द्वैत तो मन बुद्धि इन्द्रियों से ग्राह्य होने के कारण लोगों में, श्रुति द्वारा अप्रतिपादित होने पर भी, स्वतः प्रसिद्ध है। श्रुति ने निष्प्रपंच ब्रह्म में द्वैत का जो आरोपण किया है, उसका प्रयोजन उसके अपवादमात्र के लिये है, द्वैत में सत्यत्व बुद्धि जमाने के लिये नहीं ।।५४।।

अद्वैतं सुखरूपं दुःसहदुःखं सदा भवेद् द्वैतम् ।
यत्र प्रयोजनं स्यात्प्रतिपादयति श्रुतिस्तदेवासौ ॥५५॥

अर्थ––अद्वैत सदा सुखरूप है, द्वैत सदा दुःसहदुःखरूप है। जहाँ प्रयोजन होता है उसे ही श्रुति प्रतिपादन करती है।

व्याख्या––अद्वैतप्रतिपादन का दूसरा भी कारण बताते हैं। **अद्वैतम् सुखरूपम्**––अद्वैतब्रह्म की अनुभूति सर्वकाल में आनन्ददायिनी है। 'यो वै भूमा तत्सुखम्' इति छान्दोग्यश्रुति ७।२३।१ जो ब्रह्म है, वही सुख है। इसके विपरीत **द्वैतम् सदा दुःसहदुःखम्**––द्वैत की अनुभूति सर्वकाल सर्व अवस्था सर्वत्र असहनीय दुःखरूप है। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' इति बृहदारण्यक श्रुति १।४।२

द्वैत से भय होता है 'नाल्पे सुखमस्ति' इति छान्दोग्य श्रुति ७।२३।१, अल्प (द्वैत) में सुख नहीं है। **यत्र प्रयोजनम् स्यात् प्रतिपादयति श्रुतिः तत् एव असौ**––मानव जीवन का जो परमपुरुषार्थरूप मोक्ष प्रयोजन है, श्रुति भगवती उसी का प्रतिपादन करती है। जिसका मोक्षप्रयोजन में कोई योग नहीं है, श्रुति उस विषय का प्रतिपादन नहीं करती। दुःसह दुःख देनेवाले द्वैत का श्रुति क्यों प्रतिपादन करे? उस से प्राणियों को सुख नहीं पहुँचता। यही कारण है कि श्रुति अद्वैत का प्रतिपादन करती है ॥५५॥

अब अगले दो श्लोकों में स्वाभाविक जीवत्ववाद का खण्डन करते हैं।

ब्रह्म का स्वाभाविकस्वरूप जीव–इसका खण्डन।

निगमगिरा प्रतिपाद्यं वस्तु यदानन्दरूपमद्वैतम्।
स्वाभाविकं स्वरूपं जीवत्वं तस्य केचन ब्रुवते ॥५६॥

अर्थ––कुछ लोग कहते हैं कि वेदवाणी द्वारा प्रतिपादित जो आनन्दरूप अद्वैत ब्रह्म है, उसका स्वाभाविक स्वरूप जीव है।

व्याख्या––निगमगिरा प्रतिपाद्यम् वस्तु––वेदभगवान की विधि-मुख और निषेधमुख वाणी से जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तैत्तिरीय श्रुतिः २।१। ब्रह्म अविनाशी, चैतन्य और अनन्त है। यह विधि मुख प्रमाण है।'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इति कठश्रुतिः १।३।१५। ब्रह्म शब्दरहित, स्पर्शशून्य, रूपरहित अव्यय है। 'अस्थूलमनणवह्रस्वमदीर्घम्' इति बृहदारण्यक श्रुति ३।८।८, ब्रह्म न स्थूल है, न अणु है, न ह्रस्व है न दीर्घ है इत्यादि। ये निषेधमुख श्रुतियां हैं। **यत् आनन्दरूपम् अद्वैतम्**––और जो ब्रह्म आनन्दरूप और द्वैतहीन है, 'आनन्दो वै ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' इति श्रुतिः। ब्रह्म आनन्द है, वह

एक ही अद्वितीय तत्त्व है उसके विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि **स्वाभाविकम् स्वरूपम् जीवत्वम् तस्य**––उस अद्वैत ब्रह्म का स्वाभाविक स्वरूप जीव है, अर्थात् ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप जीव है **केचन ब्रुवते**–– इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं। उनके कथन का आधार निम्नलिखित श्रुति हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' तैत्तिरीय श्रुति २।६। इसे रच कर वह इसी में अनुप्रविष्ट हो गया। 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' छान्दोग्य श्रुति ६।३।२।, उस इस ब्रह्म ने ईक्षण किया 'मैं इस जीवात्मरूप से तीनों देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूं।' इन श्रुतियों के बल पर वे कहते हैं कि परमेश्वर ही साक्षात् जीव हैं अर्थात् परमात्मा का स्वाभाविक स्वरूप जीव ही है।

वेद का तात्पर्य सृष्टि रचना बताने में नहीं है, वरन् निष्प्रपंच ब्रह्म में सृष्टि आरोपण करके पुनः उसके अपवाद से ब्रह्म साक्षात्कार कराने में है। ब्रह्म सदा ब्रह्म ही रहता है,। ब्रह्म मन वाणी का विषय नहीं है, अतः, विना वेदभगवान के वाक्यों के ब्रह्म को जानना असम्भव है ।।५६।।

स्वाभाविकं यदि स्याज्जीवत्वं तस्य विशदविज्ञप्तेः।
सकृदपि न तद्विनाशं गच्छेदुष्णप्रकाशवद् वह्नेः ।।५७।।

अर्थ––प्रत्यक्षज्ञानरूप ब्रह्म का यदि स्वाभाविक स्वरूप जीव होता, तो जीवपने का एक वार भी विनाश नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि के स्वाभाविक स्वरूप उष्णता तथा प्रकाशता का नाश नहीं होता।

व्याख्या––इस पक्ष का खण्डन करते हैं। **स्वाभाविकम् यदि स्यात् जीवत्वम् तस्य विशदविज्ञप्तेः**––यदि उस प्रत्यक्षज्ञानस्वरूप ब्रह्म का जीवपना स्वाभाविक स्वरूप होता तो **सकृत् अपि न तद् विनाशम् गच्छेत्**––जीव का एक वार भी विनाश, मृत्यु नहीं होती। परन्तु अनुभव में देखा गया है कि जीव अनेकों वार जन्मता है और

मरता है। महात्मा बुद्ध ने अपने सैकड़ों जन्मों की कथायें बताई हैं जिन्हें बौद्धशास्त्रों में जातककथा कहते हैं। श्री गुरुदेव कहा करते कि पिछले जन्म में सातसौ वर्ष पूर्व वे मेवाड़नरेश थे, मर कर पुनः दीर्घकाल तक स्वर्ग के भोग भोगे। अब दृष्टान्त देते हैं **उष्णप्रकाशवत् वन्हेः**—स्वभाव अवर्जनीय होता है जैसे अग्नि को दहन और प्रकाश से विरहित नहीं कर सकते, क्योंकि उष्णता और प्रकाश अग्नि का स्वाभाविक स्वरूप है। यदि ब्रह्म का पारमार्थिक रूप जीव होता तो ब्रह्म भी जीता मरता, परन्तु ब्रह्म अजर अमर अविनाशी है, और जीव जीता मरता है 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इति बृहदारण्यक श्रुतिः ४।६।१४, अरे यह आत्मा अविनाशी है अतः ब्रह्म का स्वाभाविक जीवत्ववाद अमान्य है ॥५७॥ इसी भाव को सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड में दिया है।

जीवत्वं चेतनस्यास्य स्वाभाविकमिति द्विजाः।
केचिद्वदन्ति वार्तैषा न तत्स्वाभाविकं सदा ॥३९॥२७।
यदि स्वाभाविकं तर्हि जीवत्वं सर्वदा भवेत्।
नास्ति तस्य निवृत्तिर्हि स्वतःसिद्धं न नश्यति ॥३९॥२८॥

सूत जी कहते हैं—हे ऋषियो! कुछ आचार्य यह बात कहते हैं कि इस चेतन परमात्मा का स्वाभाविक स्वरूप जीव है, परन्तु इस दृष्टि में दोष है। परमात्मा का यदि स्वाभाविक स्वरूप जीव होता तो वह सदा ही जीव रहता, क्योंकि स्वभाव अनिवार्य है। दूसरे, जीव की मुक्तावस्था में भी सुखदुःखादि से निवृत्ति नहीं होगी। अर्थात् मुक्त पुरुष भी सुखदुःखादि को भोगेंगे, क्योंकि जीव स्वभाव से बहुविधसुखदुःखलक्षणों से युक्त होता है।

साधनाबल से जीव का परमात्मत्व तथा उसका खण्डन

यद्वदयो रसविद्धं काञ्चनतां यातीति तद्वदेवासौ।
जीवः साधनशक्त्या परतां यातीति केचिदिच्छन्ति ॥५८॥

अर्थ––जैसे लोह महौषध के प्रभाव से स्वर्णरूपता को प्राप्त होता है, वैसे ही यह जीव भी साधनशक्ति से ब्रह्मरूपता को प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं।

व्याख्या––यद्वद् अयः रसविद्धम् काञ्चनताम् याति––जैसे लोहा भेदक पारद भस्म अथवा अन्य रासायनिक प्रभाव से स्वर्णरूपता को प्राप्त होता है **तद्वत् एव असौ जीवः साधनशक्त्या परताम् याति इति**––उसी प्रकार ही जीव भी साधना के बल से, परमात्मा की आराधना, जप, ध्यानादि साधना से परमात्मरूप को प्राप्त होता है। प्रयोजन यह है कि परमात्मा का स्वाभाविक रूप तो जीव ही, परन्तु साधना के बल से वह परमात्मा बन जाता है **केचित् इच्छन्ति**––इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं। इसी भाव को सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड में कहा है––

रसविद्धमयं स्वर्णं यथा भवति सर्वदा।
केनचित्साधनेनैव तथा जीवः शिवो भवेत्।
इति केचित्स्वमोहेन प्रवदन्ति तु वादिनः ॥३९॥३०॥

जैसे कुधातु पारदादि भस्म प्रयोग से विद्ध होने पर (प्रयोग के प्रभाव से) स्वर्णता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार किसी साधन से ही (योग, मन्त्रजपादि से) जीव भी शिवभाव, ईश्वरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञान के कारण कुछवादी लोग कहा करते हैं ॥५८॥

तदिदं भवति न युक्तं गतवति तस्मिंश्चिरेण रसवीर्ये।
प्रतिपद्यते प्रणाशं हैमो वर्णोऽप्ययः समारूढः ॥५९॥

अर्थ––इस प्रकार कहना उपयुक्त नहीं होता, क्योंकि बहुतकाल बीतने पर रस की शक्ति क्षीण होने पर लोहे पर चढ़ा हुआ स्वर्णिम रंग नाश को प्राप्त होता है।

व्याख्या--पूर्वश्लोक में कथित पक्ष का खण्डन करते हैं। **तत् इदम् भवति न युक्तम्**--वह यह पक्ष उपयुक्त नहीं है, बुद्धिगम्य नहीं है, अतहेतु **गतवति तस्मिन् चिरेण रसवीर्ये**--रस की शक्ति, बहुत काल व्यतीतने से चली जाने पर **प्रतिपद्यते प्रणाशम् हैमः वर्णः अपि अयः समारूढः**--सोने का रंग भी जो कि लोहे पर अच्छी तरह चढ़ा हुआ है नष्ट हो जाता है, और लोहा प्रगट हो जाता है। प्रयोजन यह है कि साधनाबल से यदि किसी का स्वाभाविक स्वरूप तिरोहन भी किया जाये तो भी साधनबल क्षीण होने पर स्वाभाविक स्वरूप व्यक्त हो ही जायेगा, क्योंकि स्वभाव बदला नहीं जा सकता ॥५६॥

अयसो हेमवर्णत्वं न हेमत्वं कदाचन ।
रसवीर्यविनाशे तु वर्णस्तस्य विनश्यति ॥

सूतसंहिता ४।३६।३८

लोहे का रंग सुनहरा हो जाता है, वह कभी भी स्वर्ण नहीं होता। मणिमंत्रौषध की प्रतिर्वद्धक शक्ति के नाश होने पर लोहे का स्वर्णिम वर्ण भी नष्ट हो जाता है।

जीवत्वमपि तथेदं बहुविध-सुखदुःखलक्षणोपेतम् ।
गतमिव साधनशक्त्या प्रतिभात्येव प्रयाति न विनाशम् ॥६०॥

अर्थ--इसी प्रकार यह जीवपना भी जो कि नाना प्रकार के सुखदुःख लक्षणों से युक्त है साधनशक्ति के नष्ट होने पर प्रगट हो जाता है, नष्ट नहीं होता।

व्याख्या--**जीवत्वम् अपि तथा इदम्**--उसी प्रकार यह जीवभाव भी। जीव का स्वभाव बताते हैं **बहुविध-सुखदुःखलक्षणोपेतम्**--नाना प्रकार के सुख दुःख लक्षणों से युक्त, अनुकूल परिस्थिति से सुखी होना, प्रतिकूल स्थिति से दुःखी होना जीव का स्वभाव है। **गतम् इव साधन शक्त्या**--साधन बल के नष्ट होते ही **प्रतिभाति एव**--जीवस्वभाव, सुखदुःखलक्षणवाला जीवस्वभाव प्रगट हो ही जाता है

याति न विनाशम्——साधनबल, उपासना कर्मकाण्ड से जीवस्वभाव नष्ट नहीं होता, क्योंकि स्वभाव अनिवार्य है। सूतसंहिता का प्रमाण देते हैं——

जीवत्वं च तथाऽस्यापि सुखदुःखादिलक्षणम्।
नष्टवत्प्रतिबद्धं स्यान्नैव नश्यति केनचित् ॥४।३६।३५ सुख-दुःख लक्षण युक्त जीव का स्वभाव किसी साधन से प्रतिबद्ध किया जा सकता है, नष्ट किसी से भी नहीं किया जा सकता ॥६०॥

एक गीदड़ नील के कुण्ड में गिरने से नीलवर्ण हो गया। वह गीदड़ों की सभा में जाकर बोला। 'मुझे भगवान कृष्ण ने गीदड़ों का राजा बनाया है, और अपना नील वर्ण मुझे प्रदान किया है। अब मैं तुम्हारा राजा हूँ।' यह कह कर गीदड़ों पर शासन करने लगा। गीदड़ भी उसके असाधारण वर्ण से प्रभावित होकर उसे राजा मानने लगे। एक बूढ़ा गीदड़ कहने लगा कि हम इस राजा के प्रासाद के समीप रात्रि को 'हूकू-हुकू' बोलेंगे। यदि यह राजा वास्तव में कोई दिव्य विभूति है तो कुछ नहीं बोलेगा, क्योंकि गीदड़ों का स्वभाव 'हूकू-हूकू' बोलना है, और यदि यह रंगा गीदड़ ही है तो यह भी 'हूकू-हूकू' बोलेगा। गीदड़ों ने रात्रि को ऐसा ही किया। वह छद्म-वेषी भूपाल शृगाल भी स्वभाववश 'हूकू-हूकू' बोलने लगा। यह सुनते ही अन्य गीदड़ उस पर झपट पड़े और लगे ठोकने और एक निकटवर्ती क्षुद्र जलाशय में उसे पटक दिया। उस का नीलवर्ण जल में घुल गया और स्वाभाविक शृगालवर्ण प्रगट हो गया। तात्पर्य यह है कि कृत्रिम साधनों से स्वभाव नष्ट नहीं किया जा सकता।

तस्मात्स्वतो यदि स्याज्जीवः सततं स एव जीवः स्यात्।
एवं यदि परमात्मा परमात्मैवायमिति भवेद् युक्तम् ॥६१॥

अर्थ——इसलिये यदि यह स्वभाव से जीव है, तो वह सदा ही जीव ही रहेगा। इसी प्रकार यदि यह परमात्मा है तो परमात्मा

ही रहेगा। ऐसा कहना उपयुक्त ही है।

व्याख्या--तस्मात् स्वतः यदि स्यात् जीवः--इसलिये निगम-गिराप्रतिपाद्य आनन्दरूप अद्वैत ब्रह्म स्वभाव से यदि जीव हो तो **सततम् स जीवः एव स्यात्**--वह सदा ही सुखदुःख लक्षणयुक्तजीव ही रहेगा, अर्थात् उस का स्वभाव कभी भी अग्नि की दाहकता-प्रकाशता की भांति नष्ट नहीं किया जा सकता। **एवम्**--इसी प्रकार यदि परमात्मा **परमात्मा एव अयम् इति भवेत् युक्तम्**--निगमगिरा प्रतिपाद्य परमात्मा, परमात्मा ही हैं--सच्चिदानन्दस्वरूप है, तो वह सदा ही सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही रहेगा। यह पक्ष बुद्धिसंम्मत उचित है ।।६१।।

यदि वा परेण साम्यं जीवश्चेद् भजति साधनबलेन ।
कालेन तदपि कियता नश्यत्येवेति निश्चितं सकलैः ।।६२।।

अर्थ--यदि जीव साधनवल से परमात्मा की समता को प्राप्त हो जाता है तो भी कितने ही काल के व्यतीत होने पर परमातमत्व नष्ट ही हो जायेगा, यह सब से निश्चित हैं।

व्याख्या--पूर्वपक्षी का कहना है कि साधनवल से जीव और परमात्मा का तादात्म्य तो नहीं हो सकता परन्तु समानता हो सकती है अर्थात् मुक्तावस्था में परमात्मा के समान हो सकता है। इसमें विकल्प हैं। क्या जीव एक अंश से शिव के समान हो जाता है अथवा सर्वात्मारूप से शिव के समान हो जाता है ? यदि एक अंश से होता है तो बाकी का अंश अमुक्त रहेगा, यदि सर्वातमरूप से शिव समान है तो शिव के साथ उसका तादात्म्य होगा। इन शंकाओं को दृष्टि में रख कर कहते हैं।

सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड में इस प्रकार कहा गया है--

स्वतोऽशिवस्तु जीवोऽयं सर्वथा न शिवो भवेत् ।।३६।४४।।
केनचित्साधनेनैव मुक्तौ शिवसमो भवेत् ।

इत्येवं केचिदिच्छन्ति वादिनो मुनिपुंगवाः ॥३९॥४५॥
वार्तामात्रमिदं प्रोक्तं सर्वथा न तदर्थवत् ।
एकदेशेन वा जीवः किंवा सर्वात्मना शिवः ॥३९।४६॥
सर्वात्मना चेत्साम्यं तत्सर्वथा शिव एव सः ।३९।४७॥
किंच मुक्तौ शिवेनैव समो जीवो भवेद्यदि ।
किंचित्कालं हि तत्साम्यमागतं खलु गच्छति ३९।४९॥

यह जीव स्वभाव से अशिव यानी जीव ही है, साधनबल से कुछ अंश में शिव हो जाता है, पूरा शिव नहीं है। किसी साधनबल से ही मुक्तावस्था में शिवसमान होता है। इस प्रकार कुछ वादी लोग, हे मुनिश्रेष्ठो ! कहते हैं। इस प्रकार कहना सार-रहित है, जैसा इस का अर्थ है, वैसा सर्वथा यथार्थ नहीं है। अब शंका उठाते हैं। क्या जीव एक अंश से शिव हो जाता है, वा वह सर्वात्मरूप से शिव होता है ? यदि वह सर्वात्मरूप से शिव के समान होता है, तो वह जीव सर्वथा शिव ही है। यदि आप कहो कि मुक्तावस्था में ही जीव शिव के समान होता है, तो हमारा कहना है कि कुछ काल के लिये आई हुई शिव के साथ समानता निश्चय ही चली जायेगी।

यदि वा परेण साम्यम्——यदि आप यह कहें कि परमात्मा के साथ समानता **जीवः चेत् भजति साधनबलेन**——जीव साधनबल से प्राप्त करता है, अर्थात् परमात्मा के साथ जीव की समानता, स्वभाव से तो नहीं है वरन् साधनबल से, भक्ति-तपोबल से यानी कृत्रिम उपायों से जीव परमात्मा के समान होता है, तो हमारा यह कहना है कि **कियता कालेन तदपि नश्यति एव इति**——कितने ही काल में अर्थात् अचिर-काल में अथवा चिरकाल में जीव की परमात्मा के साथ समता नष्ट हो ही जायेगी, क्योंकि जीव अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। कृत्रिम उपाय भी, समय पाकर, निर्बल हो जायेंगे। साधनबल से कुछ काल के लिये स्वभाव दब सकता है, बदल नहीं

सकता। यदि जीव और परमात्मा में वास्तव में भेद होता तो वे दोनों सदा भिन्न ही रहते। जीव का साधनबल से परमात्मा होना, और स्वभाव से परमात्मा न होना वेदविरुद्ध, अतः अग्राह्य पक्ष है। हमने जो ऊपर युक्ति दी है इसमें सभी बुद्धिमानों **निश्चितम् सकलैः**—— का ऐसा ही निश्चय है ।।६२।।

इस श्लोक में पाशुपत मत का खण्डन किया है। पाशुपतों के अनुसार महेश्वर के साथ समता प्राप्त करना तथा अद्वितीय शिव में लीन हो जाना ही मुक्ति है। इस मत की समीक्षा माधवाचार्य विरचित श्रीशंकर दिग्विजय के छठे सर्ग में भी की गई है। पाठकों के बोधदृढ़ता के लिये चारों श्लोक अर्थसहित उद्धृत किये जाते हैं——

'अद्वितीयनिरता सति भेदे
मुक्तिरीशसमतैव कथं स्यात्।
ध्यानजा किमिति सा न विनश्येत्
भावकार्यमखिलं हि न नित्यम् ।।७४।।

कैवल्यमोक्ष अद्वितीय ब्रह्म में निष्ठित है। यह मुक्ति शिव की समता कैसे हो सकती है, क्योंकि भेद स्वीकार करने पर द्वैत हो जाता है। द्वैत किस प्रकार होता है? एक तो शिव और दूसरा जीव जो कि साधनबल से शिवके समान हुआ है। समानता के लिये द्वैत आवश्यक है। यदि आप कहो कि शिव के ध्यान से इस प्रकार की मुक्ति यानी शिव-समानता प्राप्त होती है, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ध्यानावस्था तो सदा रहती नहीं, ध्यान भंग होते ही मुक्ति भंग हो जायेगी। ध्यान भी तो मन की एकाग्रतावृत्तिमात्र है। समस्त भाव (दृश्य) पदार्थ अनित्य यानी नाशवान् हैं, तो बताओ ध्यान नित्य कैसे होगा, और ध्यान से प्राप्त वस्तु नित्य कैसे होगी।

किञ्च संक्रमणमीशगुणानामिष्यते पशुषु मोक्षदशायाम्।
तन्न साध्ववयवै र्विधुराणां संक्रमो न घटते हि गुणानाम् ।।७५।।

मोक्ष की दशा में पशुओं यानी जीवों में पशुपति शिव के गुणों का संक्रमण पाशुपत मत में स्वीकार किया जाता है। पर यह ठीक नहीं क्योंकि पशुपति शिव के गुण अवयवरहित यानी अमूर्त हैं, उनका संक्रमण कैसे घट सकता है? यानी नहीं घटता। संक्रमण का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रवेश करना

पद्मगंध इव गंधवहेऽस्मिन्नात्मनीश्वरगुणोऽस्त्विति चेन्न।
तत्र गन्धसमवायि नभस्वत्संयुतं दिशति गंधधियं यत् ॥७६॥

कमल का निरवय गंध जिस प्रकार वायु में संक्रमण करता है, उसी प्रकार जीव में पशुपति के गुणों का संक्रमण होता है, यह युक्ति भी ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ गंध का समवायी (कारण) कमल सूक्ष्म-रूप से वायु के साथ संयुक्त होता है, इसलिये वायु में गन्धबुद्धि पैदा करता है। स्वयं वायु गंधरहित होता है।

किञ्चैकदेशेन समाश्रयन्ते कात्स्न्येन वा शम्भुगुणा विमुक्तान्।
पूर्वे तु पूर्वोदितदोषसंग स्त्वन्तेऽज्ञतादिः परमेश्वरे स्यात् ॥७७॥

मुक्तावस्था में महेश्वर के गुण मुक्तपुरुषों में क्या एक अंश से निवास करते हैं या सम्पूर्णरूप से? यदि पहला पक्ष माना जाये तो पूर्वकथित दोष आता है, यानी निरवयव गुणों का संक्रमण नहीं हो सकता, और यदि दूसरा पक्ष माना जाये तो परमेश्वर में अज्ञतादि दोष मानने पड़ेंगे।

तस्मात्परं स्वकीयं देहं मोहात्मकं च संसारम्।
स्वज्ञानेन ग्रसित्वा पूर्णः स्वयमेव शिष्यते नान्यत् ॥६३॥

अर्थ—इसलिये अपने देह को जो कि महान मोहक है तथा संसार

को आत्मज्ञान से ग्रसन करके अपने आप ही पूर्ण अवशेष रहता है, अन्य कोई नहीं रहता।

व्याख्या—अब इस विषय का उपसंहार करते हैं। **तस्मात् स्वकीयम् देहम् परम् मोहात्मकम् च संसारम्**—इसलिये निज शरीर को जो कि दृढ़ मोह का केन्द्र है तथा संसार को जो कि शरीर का क्रीड़ा-स्थल है तथा अज्ञान का कार्य है **स्वज्ञानेन ग्रसित्वा**—आत्मा के ज्ञान से निगल कर। आत्मा अज अमर अविनाशी एक अद्वैततत्त्व है, और वह मेरा निजरूप है, इस प्रकार के ज्ञान से स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह तथा देहोपयोगी संसार को मिथ्या निश्चित करके, विवेक से इन का निराकरण करके **पूर्णः स्वयम् एव शिष्यते**—पूर्ण, अनन्त स्वयंज्योति आत्मा ही, देह तथा संसार का अधिष्ठानमात्र ही अवशेष रहता है **न अन्यत्**—अन्य कुछ नामरूपात्मक शेष नहीं रहता, क्योंकि 'नेति नेति' महावाक्य से देहगेहधनदारापुत्रादि का बाध हो जाता है और इन सब का सत्यभूत एकमात्र अधिष्ठान शेष रहता है, जो कि अपना आपा है ।।६३।। सूतसंहिता में विषय का इस प्रकार उपसंहार किया है—

तस्माज्जीवः स्वतः साक्षाच्छिवः सत्यादिलक्षणः ।।४।३६।५०।।
स्वाज्ञानं तत्प्रसूतं च संसारं स्वात्मना ग्रसन् ।
स्वपूर्ण-शिवरूपेण स्वयमेवावशिष्यते ।।४।३६।५१।।

इसलिये जीव परमार्थतः साक्षात् सत्यज्ञानादि लक्षणवाला परमात्मा ही है ।।५०।। ब्रह्मज्ञान से स्वरूप को आच्छादन करनेवाले अज्ञान को तथा अज्ञान से उत्पन्न संसार को ग्रस कर अर्थात् अज्ञान और अज्ञान के कार्य को आत्मा रूप में विलीन करके, निर्भेद होकर, परिपूर्ण परमात्मरूप से अपने आप ही अवशेष रहता है ।।५१।।

सत्यं ज्ञानमनन्तं प्रकृतं परमात्मरूपमद्वैतम् ।
अवबोधयन्ति निखिलाः श्रुतयः स्मृतिभिः समं समस्ताभिः।।६४।।

अर्थ––सारी श्रुतियाँ स्मृतियों के सहित परमात्मा के स्वाभाविक स्वरूप को 'सत्य-ज्ञान-अनन्त' और द्वैतरहित बताती हैं।

व्याख्या––जो अवशेष रहता है उस के क्या लक्षण हैं? श्रुति-प्रमाण से बताते हैं **'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम्'**––इस श्लोक में श्रुति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तैत्तिरीय श्रुति २।१। को ही ग्रंथित किया है। ब्रह्म सत्य, अविनाशी, ज्ञानरूप देश-काल–वस्तु–परिच्छेदरहित परिपूर्ण है। **प्रकृतम् परमात्मरूपम् अद्वैतम्**––आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप एकतत्त्व, द्वैतहीन है। ब्रह्म के इस स्वरूप को **अवबोधयन्ति निखिलाः श्रुतयः**––सारी श्रुतियाँ बताती हैं यथा 'एकमेवाद्वितीयम्' इति छान्दोग्य श्रुति ६।२।१।, ब्रह्म एक अद्वितीय है। 'तत्सत्यं स आत्मा' इति छान्दोग्य श्रुति।६।८, ब्रह्म सत्य है, वह आत्मा है। 'शिवमद्वैतम्' इति माण्डूक्य श्रुति।७। आत्मा मंगलमय और अद्वैत है। **समस्ताभिः स्मृतिभिः समम्**––सब स्मृतियों के साथ, यानी स्मृतियाँ भी श्रुतियों के साथ ही ब्रह्म के सत्यज्ञानादि लक्षण बताती है। 'ओं तत् सत्' इति निर्देशो ब्रह्मण-स्त्रिविधः स्मृतः' इति गीता १७।२३। ओं, तत्, सत् ऐसे यह तीन प्रकार से ब्रह्म का नाम कहा गया है ।।६४।। सूतसंहिता में भी इस प्रकार कहा है––

'तस्मात्सत्यपरानन्दप्रकाशाद्वैतमीश्वरम्।
बोधयन्त्यादरेणैव श्रुतयः स्मृतिभिः सह।४।३९।५९।

इस लिये श्रुतियाँ तथा स्मृतियाँ बड़े आदर के साथ अर्थात् निर्विवादरूप से सत्य, परमानन्द, ज्ञान-रूप, अद्वैत लक्षणवाले परमात्मा का बोध कराती हैं।

एकत्व-बोधकानां निखिलानां निगमवाक्यजालानाम्।
वाक्यान्तराणि सकलान्यभिधीयन्ते स्म शेषभूतानि ।।६५।।

अर्थ––अद्वैत स्वरूप बताने वाले समस्त वेदवाक्यसमूहों **से** भिन्न अन्य सारे वाक्य शेषभूत (सहायक) कहे जाते हैं।

व्याख्या––जीवात्मा और परमात्मा की एकता बताने वाले चार वेदों के चार महावाक्य हैं। अद्वैत ब्रह्म को प्रतिपादन करने वाले अनेकों वाक्य हैं। तो भी इनके अतिरिक्त असंख्य वेदवाक्य हैं जिनमें द्वैत भी प्रतिपादित है। अतः यह शंका है कि वेद वाक्यों में परस्पर विरोध है। दूसरे, मीमांसकों का यह कहना है कि ज्ञान-काण्ड तो कर्मकाण्ड का शेषत्व है अर्थात् अंगीभूत है। वेदों का तात्पर्य कर्मकाण्ड प्रतिपादन करने में है, महावाक्य द्वारा कथित सिद्ध अर्थ प्रतिपादन करने में नहीं है। इन सब शंकाओं को दृष्टि में रख कर कहते हैं।

एकत्वबोधकानाम् निखिलानाम् निगम-वाक्य-जालानाम्–– जीव और ईश्वर के भेदभ्रम निरास से पारमार्थिक एकता का बोधन कराने वाले तत्त्वमस्यादि समस्त वेद महावाक्यों के समूहों के **वाक्यान्तराणि**-महावाक्यों से भिन्न दूसरे वेदवाक्य। तात्पर्य यह है कि महावाक्य के सिद्ध होने पर निरतिशयानन्द लक्षण वाले ब्रह्म का दर्शन होता है, मानवपुरुषार्थ की यही चरम सीमा है। दूसरे उपनिषद वाक्य **सकलानि शेषभूतानि अभिधीयन्ते स्म**––समस्त वाक्य जाल शेषभूत, अर्थात् सहायक, अंगभूत, महावाक्यानुसारी कहे जाते हैं, विरोधी नहीं। विरोधी कैसे नहीं? नीचे लिखी श्रुति में जीव और ईश्वर का भेद बताया है। इससे अद्वैत ब्रह्म का विरोध होता है।

द्वा सपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नशनन्नन्योऽभिचाकशीति। मुण्डक श्रुति ३।१।१।

साथ-साथ रहनेवाले तथा समान पक्षों वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष को आश्रय करके रहते हैं। उनमें से एक (जीव) तो स्वादिष्ट पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा (ईश्वर) भोग न करके केवल देखता रहता है।

इस श्रुति में जीव और ईश्वर को पृथक्-पृथक् बताया है। ठीक है, परन्तु इस श्रुति का, जीव ईश्वर का भेद बताना प्रयोजन नहीं है, क्योंकि अगली श्रुति कहती है—कि इस भेद के कारण जीवात्मा 'अनीशया शोचति मुह्यमानः' अपनी शक्तिहीनता देख कर शोक और मोह को प्राप्त होता है, परन्तु जब वह ईश्वर के साथ अपने को अभेद जानता है तो 'वीतशोकः' शोकरहित हो जाता है। अतः अभेदपरक वेदवाक्यों का अवशेष वाक्यों से विरोध नहीं है। अवशेष वाक्य महावाक्य तक पहुँचाने की सीढ़ियाँ हैं।

ज्ञान को कर्म का अंग कहनेवाले नीचे लिखी श्रुतियों का आश्रय लेते हैं। 'यदेव विद्यया करोति', जो कर्म विद्या से किया जाता है। उनका कहना है कि इस श्रुति में विद्या को कर्म का अंग कहा है। पूरी श्रुति इस प्रकार है, 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यतरं भवति' जो कर्म विद्या से श्रद्धा से और ज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान होता है। इस में विद्या का अर्थ 'शास्त्रोक्त मार्ग' है और ज्ञान का अर्थ शास्त्रोक्त मार्ग का ज्ञान है। यहाँ विद्याका तथा ज्ञानका अर्थ ब्रह्मविद्या नहीं है। दूसरी श्रुति इस प्रकार है। 'यज्ञेन विविदिषन्ति' यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं। इस श्रुति का सही अर्थ है कि यज्ञ से (निष्काम कर्म से अन्तः-करण शुद्ध करके, विवेक वैराग्यादि साधनचतुष्टय से संयुक्त होकर) जानने की इच्छा करते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि एक अन्य निषेधात्मक प्रबल श्रुति, 'न कर्मणा न प्रजया धनेन।' कैवल्यश्रुति।३। कर्म से ज्ञान की प्राप्ति का निषेध करती है

प्रयोजन यह है कि वाक्यान्तरों का कार्य महावाक्य के

अवबोधन की स्थिति तक पहुँचाना है। जैसे सीढ़ी का प्रयोजन छत तक पहुँचाना है, वैसे ही वाक्यान्तरों का प्रयोजन महावाक्य की अवगति तक पहुँचाना है। अतः वाक्यान्तर महावाक्यों के अंगीभूत हैं, विरोधी नहीं। सूतसंहिता में इस प्रकार कहा है—

'एकत्वबोधकस्यास्य वेदवाक्यस्य सुव्रताः।
वाक्यान्तराणि सर्वाणि शेषभूतानि संततम्॥'

हे सुन्दर व्रतवाले मुनियो! जीव और ईश्वर की एकता प्रतिपादन करने वाले 'तत्त्वमसि' वेदमहावाक्य के उपनिषदों के दूसरे सारे वाक्य सदा उसी के अनुसार शेषभूत अंग हैं। प्रयोजन यह है कि ज्ञानकाण्ड वेदभाग के वाक्यों में विरोध नहीं है॥६५॥

यस्मिन्मिहिरवदुदिते तिमिरवदपयान्ति कर्तृतादीनि।
ज्ञानं विरहितभेदं कथमिव तद्भवति तत्त्वमस्यादेः॥६६॥

अर्थ—सूर्य के तुल्य ज्ञान के उदय होने पर अंधकार के सदृश कर्तापनादि नष्ट हो जाते हैं। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से उत्पन्न ज्ञान निर्भेद होता है। उस ज्ञान में कर्तापनादि भेद कैसे हो सकते हैं?

व्याख्या—कुछ आचार्यगण कहते हैं कि कर्मकाण्ड का ज्ञानकाण्ड शेषभाग है जैसा कि सूतसंहिता में कहा है—

कर्मशेषत्वमायासाद् ब्रह्मकाण्डस्य केचन।
वर्णयन्ति न ते सन्तः किंतु ते विप्रलम्भकाः॥४।३९।७१।

कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञानकाण्ड तो कर्मकाण्ड का ही सहायक है। वे सत्य नहीं है, किन्तु वञ्चक हैं। ज्ञान में कर्त्तापन, भोक्तापन, प्रेरकत्व तथा क्रियाफल सब समाप्त हो जाते हैं। इस शंका को ही दृष्टि में रख कर कहते हैं—**यस्मिन् मिहिरवत् उदिते**—सूर्य-

तुल्य जिस ब्रह्मज्ञान, तत्त्वमस्यादि महावाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता का ज्ञान उदय होने पर, अनुभूत होने पर **तिमिरवत् अपयान्ति कर्तृतादीनि**––अंधकार की भान्ति कर्तापन आदि पद से भोक्तापन, कर्म में प्रेरकत्व, तथा क्रियाफल सब भाग जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' गीता ४।३३।, हे अर्जुन ! सब कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। **तत्त्वमस्यादेः ज्ञानम् विरहित-भेदम्**––तत्त्वमस्यादि महावाक्य से उत्पन्न सर्वभेदरहित अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान, उसमें **कथम् इव तत्-भवति**––किस प्रकार कर्म, कर्तापन, भोक्तापनादि का भेद रह सकता है, अतः ज्ञान होने पर जब कर्म रहता ही नहीं, तो ज्ञान उस कर्म का शेषभाग कैसे होगा अर्थात् नहीं होगा। सूतसंहिता में इसी भाव को विशद किया है––

कर्तृत्वं चैव भोक्तृत्वं नियोज्यत्वं क्रियाफलम्।
ग्रसते ब्रह्मविज्ञानं ततस्तच्छेषता ऽस्य न ।।४।३६।७२।
अल्पलाभप्रदं कर्म ज्ञानं पूर्णफलप्रदम्।
तथा सति मुनिश्रेष्ठास्तच्छेषत्वं कथं भवेत् ।।४।३६।७३।

हे श्रेष्ठ मुनियो ! ब्रह्मज्ञान तो कर्तापन, भोक्तापन, कर्मप्रेरकत्व तथा कर्मफल सब को खा जाता है, अतः ज्ञान इस कर्मकाण्ड का शेष भाग नहीं है।७२। कर्म अल्पफल अर्थात् विनाशशील फल देने वाला है, और ज्ञान परिपूर्ण मोक्षरूप अविनाशी फल देने वाला है। ऐसा होने पर ज्ञान किस प्रकार कर्म का शेष भाग हो सकता है ।।६६।।

ज्ञान कर्म का अंग है––खण्डन

कर्मप्रकरणनिष्ठं ज्ञानं कर्माङ्गमिष्यते प्राज्ञैः।
भिन्नप्रकरणभाजः कर्माङ्गत्वं कथं भवेज्ज्ञप्तेः ।।६७।।

अर्थ––ज्ञानकाण्ड कर्मकांड में निष्ठित है, अतः बुद्धिमान लोग ज्ञान को कर्म का अंग मानते हैं। (इसका खण्डन) ज्ञान का प्रकरण

कर्म के प्रकरण से भिन्न है। अतः ज्ञान किस प्रकार कर्म का अंग हो सकता है?

व्याख्या—अब दो श्लोकों में ज्ञान और कर्म के अंगांगिभाव का खण्डन करते हैं। **कर्मप्रकरणनिष्ठम् ज्ञानम्**—ब्रह्मज्ञान वेद के कर्मकाण्ड विभाग में ही निष्ठित है अतः **कर्माङ्गम् इष्यते प्राज्ञैः**—अतः स्वयंमन्यमाना पण्डितों द्वारा ज्ञान कर्म का अंग कहा जाता है। अब इस पक्ष का खण्डन करते हैं। **भिन्नप्रकरणभाजः कर्माङ्गत्वम् कथम् भवेत् ज्ञप्तेः**—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड—वेदों के ये तीन विभाग हैं। कभी-कभी उपासनाकाण्ड का कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव करके दो ही काण्ड कहे जाते हैं, क्योंकि उपासना भी तो कर्म ही है। ज्ञान जो कि कर्मकाण्ड से भिन्न अर्थात् ज्ञानकाण्ड का विषय है किस प्रकार कर्मकाण्ड का अंग हो सकता है सूतसंहिता में इस प्रकार कहा है—

कर्मप्रकरणस्थं हि ज्ञानं कर्माङ्गमिष्यते।
भिन्नप्रकरणं ज्ञानं ततस्तच्छेषताऽस्य न' ।।४।३६।७५।

ब्रह्मज्ञान वेद के कर्मकाण्ड भाग में ही प्रतिष्ठित है, अतः वह कर्म का अंग है। इसका खण्डन करते हैं। ज्ञान भिन्न प्रकरण वाला है, ज्ञान कर्म का अंग कैसे हो सकता है ।।६७।।

अधिकारि-विषयभेदौ कर्मज्ञानात्मकावुभौ काण्डौ।
एवं सति कथमनयोरङ्गाङ्गित्वं परस्परं घटते ॥६८॥

अर्थ—अधिकारी और विषय भेद से वेदों के दो भाग कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड हैं। ऐसा होने पर इन दोनों का आपस में अङ्गाङ्गी संबंध कैसे हो सकता है।

व्याख्या—**अधिकारि विषयभेदौ कर्मज्ञानात्मकौ उभौ काण्डौ**—अधिकारी और विषयभेद से वेदों में कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों

दिये हैं। अज्ञानी आस्तिक द्विज स्वर्गस्त्रीपुत्रादि की कामना वाले कर्मकाण्ड के अधिकारी हैं। विवेकवैराग्यादि साधनसम्पन्न मुमुक्षु लोग ज्ञानकाण्ड के अधिकारी हैं। देवविद्या यज्ञादि कर्मकाण्ड का विषय है। ब्रह्मज्ञान, निरतिशयानन्दरूप मोक्ष ज्ञानकाण्ड का विषय है। अधिकारी और विषय विभाग से वेदों के दो स्वतंत्र काण्ड है। **एवं सति**--ऐसा होने पर **कथम् अनयोः अङ्गाङ्गित्वम् परस्परम् घटते**--किस प्रकार इन दोनों स्वतंत्र वेद विभागोंका पारस्परिक अंगांगी भाव सिद्ध हो सकता है। अर्थात् कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड एक दूसरे के अंग नहीं हैं, वरन् स्वतंत्र हैं। कहने का प्रयोजन यह है कि ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है, कर्म से नहीं। अज्ञान का नाश करने में ज्ञान स्वतंत्र है और कर्म की अपेक्षा नहीं रखता ॥६८॥

कर्म का ज्ञान अंग नहीं है। यह वार्ता भगवान् भाष्यकार ने दो श्लोकों में संक्षेप से कही है। सूतसंहिता में यही विषय विस्तार से सात श्लोकों में (४।३६।७१-७७) दिया है। विस्तार भय से सूतसंहिता के श्लोकों का सारमात्र यहाँ देते हैं।

ज्ञान कर्म का शेषत्व यानी अंग नहीं है--

(१) ज्ञान से कर्म दग्ध हो जाता है।

(२) फल दृष्टि से कर्म का फल नाशवान है, ज्ञान का फल अविनाशी है।

(३) कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड वेद के दो भिन्न प्रकरण हैं।

(४) कर्म का फल साध्य है, ज्ञान का फल स्वतःसिद्ध है।

(५) स्वर्गपुत्रादि की कामनावाला कर्मकाण्ड का अधिकारी है। विवेकवैराग्यादि साधनसम्पन्न मुमुक्षु ज्ञान का अधिकारी है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवादका खण्डन

ज्ञानं कर्मणि न स्याज्ज्ञाने कर्मेदमपि तथा न स्यात्।
तत्कथमनयोरुभयोस्तपनतमोवत् समुच्चयो घटते ॥६९॥

अर्थ--ज्ञान कर्म में नहीं, वैसे ही ज्ञान में कर्म भी नहीं है। तब किस प्रकार इन दोनों का, सूर्य अंधकार की भांति विरोधी होने से, समुच्चय घट सकता है।

व्याख्या--अब दो श्लोकों में ज्ञान और कर्म के समुच्चयवाद का खण्डन करते हैं। कर्म और ज्ञान दोनों मिल कर अज्ञान का नाश करते हैं। कर्म, अज्ञान नाश में, ज्ञान का सहायक है। इसे समुच्चयवाद कहते हैं। **ज्ञानम् कर्मणि न स्यात्**--कर्म में ज्ञान नहीं होता, क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा कर्म सम्पादित होते हैं, और देहाभिमान रहित होने पर ज्ञान सिद्ध होता है। अहंकार-वासना गलित होने से ज्ञानवान द्वारा कर्म नहीं बन सकता। जीवन्मुक्त शरीरों द्वारा जो कर्म होते हैं वे कर्माभास होते हैं, वास्तव में बंधनकारी कर्म नहीं हो सकते। भिक्षा, मलमूत्रत्यागनादि कर्म नहीं गिने जाते। तात्पर्य यह है कि जैसे ज्ञानकांडका कर्मकांड शेषभाग नहीं है, वैसे ही कर्मकांड का भी ज्ञानकांड शेष भाग नहीं है। यह बात आगे कहते हैं।

ज्ञाने कर्म इदम् अपि तथा न स्यात्--जैसे कर्म में ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ज्ञान में कर्म भी नहीं हो सकता, अतःहेतु। विद्या अर्थात् ज्ञान और कर्म का विरोध होने से मोक्ष प्राप्ति में उनका सह-अस्तित्व संभव नहीं हो सकता, 'विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी' ब्रह्मविद्या ही अज्ञाननाश में कुशला है, 'न कर्म तज्जम् ।।१३।।' कर्म नहीं, क्योंकि कर्म अविद्या से उत्पन्न होता है। 'देहाभिमानाद-भिवर्धते क्रिया, विद्या गताहंकृतितः प्रसिद्ध्यति' ।।१४।। देहाभिमान से कर्म विस्तार पाता है, और देहाभिमान नष्ट होने पर ज्ञान सिद्ध होता है। 'उदेति कर्माखिलकारकादिभिः, निहन्ति विद्याऽ खिलकारकादिकम्' ।।१५।। कर्म अन्य सहायक कारणों के साथ उदय होता है। ब्रह्म विद्या समस्त कर्म और उनके सहायक कारकों को नष्ट करती है। ऊपर लिखे प्रमाण श्रीरामगीता से दिये हैं। 'सर्वं कर्माखिलं

पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।' गीता ४।३३। हे अर्जुन! ज्ञान में सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।

तत् कथम् अनयोः उभयोः—फिर किस प्रकार कर्म और ज्ञान इन दोनों का **तपनतमोवत्**—सूर्य और अन्धकार की भांति विरोधी होने से **समुच्चयः घटेत्**—मोक्ष साधन में समुच्चय, योग हो सकता है, अर्थात् केवल ज्ञान ही स्वतंत्र रूप से मोक्ष प्रदान में सक्षम है। समुच्चय-वादी भट्टमतानुसारी अपने पक्ष की पुष्टि में इस श्रुति का आधार लिया करते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ईशावास्यश्रुति ।११।

जो विद्या और अविद्या (कर्म) इन दोनों को एक ही साथ जानता है वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त होता है, अर्थात् उपासना और कर्म के समुच्चय से मोक्ष लाभ करता है। समुच्चयवादी 'विद्या' शब्द से मुख्य परमार्थविद्या लेते हैं, और 'अमृत' से अमृतत्व, मोक्ष लेते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मविद्या तो अविद्या का नाश करती है, अतः उनका सह-अस्तित्व नहीं बन सकता। यहाँ विद्या शब्द का अर्थ देवताज्ञान है, और अविद्या का अर्थ कर्म है। 'विद्यया देवलोकः।' 'कर्मणा पितृलोकः।' बृहदारण्यकोपनिषद १।५। विद्या से देवलोक प्राप्त होता है। कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है। 'अमृत' शब्द का अर्थ देवात्मभाव है, सापेक्षिक अमरता, कैवल्यमोक्ष नहीं।

समुच्चयवादी इस श्रुति का भी आधार लेते हैं। 'आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' मुण्डक श्रुतिः।३।१।४।,आत्मरतिः (ब्रह्मविद्या) तथा क्रियावान् (अग्निहोत्रादि कर्म) के समुच्चयसे ब्रह्म-विद्या में वरिष्ठ होता है। परन्तु इस प्रकार अर्थ करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि बाह्यक्रियावान् पुरुष आत्मक्रीड और आत्मरति नहीं हो सकता। बाह्य क्रिया से निवृत्त होकर ही आत्मक्रीड हो सकता

है, क्योंकि बाह्यक्रिया और आत्मकीडा का परस्पर विरोध है। अतः क्रियावान् का अर्थ है ज्ञान-ध्यान-वैराग्यादि क्रियाएँ, न कि अग्नि-होत्रादि क्रिया। ज्ञान-ध्यानादि ब्रह्मविद्या के उपकारी अंग हैं, विरोधी नहीं। ॥६९॥

तस्मान्मोह-निवृत्तौ ज्ञानं न सहायमन्यदर्थयते।
यद्वद् घनतरतिमिरप्रकर-परिध्वंसने सहस्रांशुः ॥७०॥

अर्थ—इसलिये अज्ञान नाश करने में ज्ञान ही (एकान्त) साधन है, दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, जैसे कि प्रगाढ़ अंधकार समुदाय के सम्यक् विनाश में अकेला सूर्य ही साधन है।

व्याख्या—तस्मात् मोहनिवृत्तौ ज्ञानम्—अब विषय का उपसंहार करते हैं। अज्ञान निवारण में ज्ञान, ब्रह्मविद्या हेतु है, अकेला ही **न सहायम् अन्यत् अर्थयते**—अन्य की यानी कर्म और उपासना की सहायताकी अपेक्षा नहीं करता। मोक्ष के लिये निष्काम कर्म क्यों कहा है? निष्काम कर्म से अन्तःकरणकी शुद्धि होती है जिसके फलस्वरूप उसमें ज्ञानबीज पकड़ने का सामर्थ्य हो जाता है। निष्काम कर्म ज्ञान का साक्षात् हेतु नहीं है। श्रीरामगीताका प्रमाण देते हैं 'तस्मात्स्वतंत्रा न किमप्यपेक्षते, विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥२०॥' मोक्ष-फल जनन में ब्रह्मविद्या स्वतंत्रा है। वह कर्म की तथा 'अपि' पद से उपासना की भी अपेक्षा नहीं रखती। मोक्षसंपादन में केवल विद्या ही, कर्म से असहाया, समर्था है। **यद्वत् घनतरतिमिरप्रकर-परिध्वंसने सहस्रांशुः**—अब दृष्टान्त से समझाते हैं। जैसे अत्यन्त प्रगाढ़ अंधकार के समूह का सम्यक् नाश करने में हजार किरणों वाला अकेला ही सूर्य समर्थवान है। तिमिर-नाश करने में सूर्य को पृथ्वी जलादि की सहायता की अपेक्षा नहीं। तात्पर्य यह है कि कर्म और ज्ञान का विरोध है। अतः उनका सह-अस्तित्व संभव नहीं। अकेला ज्ञान ही अज्ञान का नाश कर सकता है, कर्म

नहीं जैसे कि प्रकाशमान सूर्य अंधकार का विनाश करता है। प्रकाश और अन्धकार में विरोध है। सूतसंहिता में इस प्रकार कहा है—

तमोनिवृत्तौ सूर्यस्तु यथा नान्यदपेक्षते।
तथा ज्ञाननिवृत्तौ तु ज्ञानं नान्यदपेक्षते ।।४।४०।८४।

अंधकार निवारण में जैसे सूर्य अन्य सहायक, कारणों की अपेक्षा नहीं करता वैसे ही अज्ञाननिवारण में ज्ञान अन्य कारण की अपेक्षा नहीं करता।

भगवान भाष्यकार ने समुच्चयवाद का संक्षेप में खंडन किया है। सूतसंहिता ने बारह श्लोकों में (४।३९।७८-८९) इसका खंडन किया है। विस्तारभय से मूलश्लोक न देकर उनका साररूप इस प्रकार दिया जाता है:—

ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता—

(१) अज्ञान के रहते ही कर्म संभव है। अज्ञान के रहते ज्ञान संभव नहीं।
(२) कर्म अप्रकाशात्मक है, ज्ञान स्वयं प्रकाश है।
(३) ज्ञानकाण्ड किसी भी कर्मकाण्ड का शेषभाग नहीं है। वैसे ही कर्मकाण्ड भी ज्ञानकाण्ड का शेषभाग नहीं है।
(४) शान्तिदान्ति आदि गुण, तथा श्रवणमननादि ज्ञान के साधन हैं, कर्म नहीं।
(५) अज्ञानविच्छेदन में ज्ञान को कर्म की अपेक्षा नहीं।
(६) क्षणध्वंसी क्रिया का धर्माधर्मात्मक फल है, ज्ञान नहीं, अतः कर्म ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं है।
(७) निष्काम कर्म का फल चित्तशुद्धि है, और उससे संसार-दोषदर्शन होते हैं, जिसका फल विरक्ति और मुमुक्षुता है। ।।७०।।

ज्ञानं तदेवममलं साक्षी विश्वस्य भवति परमात्मा ।
संबध्यते न धर्मैः साक्षी तैरेव सच्चिदानन्दः ॥७१॥

अर्थ––इस प्रकार वह ब्रह्म मलरहित है। परमात्मा विश्व का साक्षी होता है। साक्षी विश्व के उन धर्मों से लिपायमान ही नहीं होता, क्योंकि उसका स्वरूप सच्चिदानन्द है।

व्याख्या––अब दो श्लोकों में आत्मा का असंगरूप बताते हैं। **ज्ञानम् तत् एवम् अमलम्**––ज्ञान का अर्थ यहाँ ब्रह्म है। वह ब्रह्म जिसका 'तत्त्वमसि' महावाक्य से साक्षात्कार किया जाता है इस प्रकार अमल, माया तथा माया के कार्य से असंस्पृष्ट, एक अद्वितीय तत्त्व सिद्ध हुआ है। **साक्षी विश्वस्य परमात्मा**––वही ब्रह्म, परमात्मा साक्ष्य, दृश्य की अपेक्षा से साक्षी, द्रष्टा होता है, किसका? विश्व का। वह अमल कैसे हुआ? **संबध्यते न धर्मैः साक्षी तैः एव**––क्योंकि विश्व के उन धर्मों से, जन्ममरणादि धर्मों से साक्षी संबंधरहित होता ही है। जैसे दीपक घर की स्वच्छता मलिनता से लिप्त नहीं होता ऐसे ही साक्षी परमात्मा साक्ष्य विश्व के गुण अवगुणों से लिपायमान नहीं होता 'असंगो न हि सज्यते' इति बृहदारण्यक ४।५।१५। असंग लिपायमान नहीं होता, अतः वह सदा ही **सच्चिदानन्दः**––अपने स्वरूप में ही रहता है, उसका स्वरूप 'नित्य, चेतन और आनन्द' है। उसके मौलिक स्वरूप में विकार नहीं आता ॥७१॥

रज्ज्वादेरुरगाद्यैः संबंधवदस्य दृश्यसंबन्धः ।
सततमसंगोऽयमिति श्रुतिरप्यमुमर्थमेव साधयति ॥७२॥

अर्थ––रज्जु आदि का सर्पादि के साथ जैसा संबंध होता है, वैसा ही परमात्मा का दृश्य के साथ संबंध है। यह परमात्मा सदा असंग है। वेद भगवान भी इसी अर्थ को सिद्ध करते हैं।

व्याख्या–ब्रह्म और विश्व का संबंध किस प्रकार का है ? **रज्जु-आदेः उरग-आद्यैः सम्बन्धवत् दृश्यसंबंधः**––ब्रह्म का जगत् से ऐसा ही संबंध होता है जैसे कि रज्जु का सर्प से, आदि पद से सीपी समझना, जैसे कि सीपी का चाँदी से, उरग के साथ आदि पद से रेखा, धारा समझना। जैसे ईषत् अन्धकार में पड़ी रज्जु सर्पवत्, रेखावत्, धारावत् भासती है, और जैसे रस्सी का सर्प, रेखा, धारा से संबंध है, वैसे ही परमात्मा का संबंध जगत् से जानना। जैसे रस्सी में सर्पारोपण से रस्सी में विष व्याप्त नहीं होता वैसे ही परमात्मा में सृष्टि-आरोपण से सृष्टिगत उत्पत्तिविनाशादि धर्म परमात्मा में प्रवेश नहीं करते, क्यों ? **सततम् असंगः अयम् इति**–क्योंकि परमात्मा सर्वकाल में असंग, द्रष्टा रहता है **श्रुतिः अपि अमुम् अर्थम् एव साधयति**––श्रुति भगवती भी इसी अर्थ को सिद्ध करती है कि परमात्मा असंग है। श्रुति इस प्रकार है 'असंगो ह्ययं पुरुषः'–यह पुरुष (परमात्मा) असंग है ।।७२।।

कर्तृ च कर्म च यस्य स्फुरति ब्रह्मैव तन्न जानाति ।
यस्य न कर्तृ न कर्म स्फुटतरमयमेव वेदितुं क्रमते ।।७३।।

अर्थ––जिस को कर्तापन और कर्म स्फुरित होते हैं, वह ब्रह्म को नहीं जानता। जिस को कर्तापन और कर्म स्पष्ट रूप से नहीं भासते, वह ही ब्रह्म को जानने का उपक्रमण करता है।

व्याख्या––कर्तृ च कर्म च यस्य स्फुरति––जिस के अन्तकरण में कर्ता होने का अभिमान है और जो अपना कर्तव्य समझता है अर्थात् जो कर्तापन और श्रौतस्मार्त कर्म अथवा नित्यकर्म, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्मों में सत्य बुद्धि रखता है, जिसके हृदय में पुनः-पुनः कर्तृत्वभाव 'मैं अमुक कर्म का कर्ता हूँ, तथा कर्मभाव 'मैं ब्राह्मण हूँ, भजन करना मेरा कर्त्तव्य है, मैं वैश्य हूँ, द्रव्योपार्जन, गोरक्षा करना मेरा कर्तव्य है', इत्यादि उदय होते हैं, **ब्रह्म एव तत्-न जानाति**––वह

ब्रह्म, अर्थात् अपने को नहीं जानता। वह चाहे अन्य कुछ भी जानता हो परन्तु उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि कर्तापन तथा कर्म अविद्या के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जपादि कर्म मन के, वचनादि वाणी के, मोटापतला होना शरीर के धर्म हैं, इनमें अभिमान करने वाला मूढ़ जीव है। इसके विपरीत **यस्य न कर्तृ न कर्म अयम् एव स्फुट-तरम् वेदितुं क्रमते**--जिस के अन्तःकरण में कर्तापन और कर्म का अभिमान नहीं है, वह ही ब्रह्म के प्रत्यक्ष जानने का उपक्रमण करता है, अर्थात् जिस का देहाभिमान क्षीण हो गया है, वही साधक ब्रह्मविद्या का उपयुक्त अधिकारी है ।।७३।।

कर्तृत्वादिकमेतन्मायाशक्त्या प्रतीयते निखिलम् ।
इति केचिदाहुरेषा भ्रान्ति र्ब्रह्मातिरेकतो नान्यत् ॥७४॥

अर्थ--'यह समस्त कर्तापनादि मायाशक्ति से प्रतीत होता है।' इस प्रकार कुछ लोग कहते हैं। यह भ्रान्ति है। ब्रह्म से भिन्न कोई नहीं है।

व्याख्या--कर्तृत्वादिकम् एतत् निखिलम्--कर्तापन आदि पद से भोक्तापन इन से युक्त समस्त व्यवहार का आधार स्थूलदेह तथा इसका क्रीड़ास्थल समस्त विश्व **मायाशक्त्या प्रतीयते**--मायाशक्ति से प्रतीत होता है, प्रतिभासित होता है **इति केचित् आहुः**--ऐसा कुछ लोग कहते हैं। इस पक्ष का खण्डन करते हैं। **एषा भ्रान्तिः**--ऐसा कहना भ्रान्ति-मात्र है, क्योंकि माया तो जड़ है, जड़वस्तु किसी का कर्ता, ज्ञाता नहीं हो सकती। दूसरे शक्ति कभी भी निराधार नहीं हो सकती, शक्ति शक्तिमान की होती है, शक्ति स्वतंत्रा नहीं होती। इसलिये **ब्रह्म-अतिरेकतः अन्यत् न**--ब्रह्म से भिन्न कर्तृत्वभोक्तृत्वभावयुक्त दृश्य-प्रपंच कुछ नहीं है, जैसे रस्सी से भिन्न फण-धड़-पूंछवाला सर्प कुछ नहीं है। अधिष्ठान से भिन्न आरोपित वस्तु कुछ नहीं होती, अधिष्ठान ही अध्यस्तरूप होकर भासता है। नामरूप तो वाणी का विकार है, विकार वास्तव में कुछ नहीं होता। यों भी कह सकते हैं कि माया विश्व

का कारण नहीं है। ब्रह्म से भिन्न विश्व का निमत्तोपादान कारण अन्य नहीं हैं। माया के जानने से ज्ञान नहीं होता ।।७४।।

तस्मिन्ब्रह्मणि विदिते विश्वमशेषं भवेदिदं विदितम् ।
कारणमृदि विदितायां घटकरकाद्या यथावगम्यन्ते ॥७५॥

अर्थ—उस ब्रह्म के जान लेने पर यह अशेष विश्व जाना जाता है। घट, करवा आदि के कारण मिट्टी के जानने पर जैसे मृत्तिका के कार्य जाने जाते हैं।

व्याख्या—**तस्मिन् ब्रह्मणि विदिते**—उस ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर, प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर **इदम् अशेषम् विदितम् भवेत्**—इस समस्त विश्व का ज्ञान हो जाता है। श्रुति प्रमाण देते हैं **कारणम्-मृदि विदितायाम्**—कारणभूता मृत्तिका के ज्ञान होने पर **घटकरकाद्याःयथा अवगम्यन्ते**—जैसे कि मृत्तिका के कार्य कुम्भ, करवे आदि पद से मिट्टी के अन्य पात्र जाने जाते हैं। 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' छान्दोग्योपनिषद ६।१।४।, हे सोम्य! जिस प्रकार एक मृत्तिकापिण्ड के जानने से सब मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, विकार केवल वाणी के आश्रयभूत नाममात्र है। सत्यं तो केवल मृत्तिका ही है ।।७५।।

तदिदं कारणमेकं विगतविशेषं विशुद्धचिद्रूपम् ।
तस्मात्सदेकरूपान्मायोपहितादभूदिदं विश्वम् ॥७६॥

अर्थ—वह यह एकतत्त्व, सर्वविशेषता से रहित, विशुद्ध चेतनरूप एक कारण है। इसलिये एक सद्रूप मायोपहित चेतन से यह विश्व उत्पन्न हुआ।

व्याख्या—आपने विश्व की मायाकारणता का 'एषा भ्रान्तिः

कह कर खण्डन किया है, तो विश्व का सही कारण क्या है? **तत् इदम् कारणम्**---विश्वका वह यह कारण **एकम्**---एक ही है, उसकी क्या विशेषता है? **विगत विशेषम्**---वह सब विशेषताओं से रहित मन वाणी का अविषय है, वह क्या है? **विशुद्ध चित् रूपम्**---अद्वितीय चैतन्य ब्रह्म है। **तस्मात् सत्-एक-रूपात् माया-उपहितात्**---इसलिए उस सत् एकतत्त्व मायाच्छादित ब्रह्मसे **इदम् विश्वम् अभूत्**---यह विश्व उत्पन्न हुआ। ब्रह्म जब माया की उपाधि धारण सा करता है तब वह मायोपहित ब्रह्म यानी ईश्वर कहलाता है। चैतन्य ब्रह्म के सान्निध्य से माया आलोकित हो उठती है, अर्थात् चेतन सी हो जाती है, तप्तलोहपिंड की भांति, और सृष्टि की रचना करती है। ब्रह्म स्वयं निष्प्रपंच निष्क्रिय होने से तथा माया अचेतन होने से सृष्टि की रचना नहीं कर सकते, परन्तु परमात्मा की समीपता से माया ब्रह्म के तेज से आलोकित होकर सृष्टि रचना का अभिमान करती है। अधिष्ठान तो ब्रह्म ही होता है माया उस पर नामरूपात्मक जगत् आरोपित करती है। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।' गीता ९।१०। मेरी अध्यक्षता से माया चराचर सृष्टि को रचती है। यह नियम है कि आरोपण शून्य में नहीं हो सकता जैसे कि पूर्व में कहा है, 'आरोपणं न शून्ये' इति ॥७६॥

असत्वाद का खण्डन

कारणमसदिति केचित्कथयन्त्यसतो भवेन्न कारणता।
अङ्कुरजननी शक्तिः सति खलु बीजे समीक्ष्यते सकलैः ॥७७॥

अर्थ---कुछ लोग कहते हैं कि 'विश्व का कारण असत् है' (इस का खंडन)। सब से देखा गया है कि बीज में अंकुर उगानेवाली शक्ति को बीज की अपेक्षा है। (यदि बीज होगा तभी तो अंकुर निकलेगा)

व्याख्या---आपने विश्व को ब्रह्म में सर्प की भांति रज्जु में कल्पित बताया है 'रज्ज्वादेः उरगाद्यैः संबंधवत्।' हमारा यह कहना है कि

यदि विश्व असत् है, तो उसका कारण भी असत् होना चाहिये। इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं। **कारणम् असत् इति केचित् कथयन्ति**—कुछ लोग कहते हैं कि कारण असत् है। वे इस श्रुति का आधार लेते हैं, 'असत् वा इदमग्र आसीत्।' तैत्तिरीयश्रुति ।२।७।, यह जगत् आरम्भ में असत् था। परन्तु इस श्रुति में असत् का सही अर्थ व्यक्त है, अर्थात् आरम्भ में यह जगत् नामरूपरहित था।

इसका खण्डन करते हैं। **असतः भवेत् न कारणता**—असत् किसी का कारण नहीं बन सकता, 'नासतो विद्यते भावः 'इति गीता २।१६, असत् की सत्ता नहीं होती। जिस की सत्ता ही नहीं हो, वह किसका किस प्रकार कारण बन सकता है, अर्थात् नहीं बन सकता। अब दृष्टान्त से समझाते हैं। **अंकुरजननी शक्तिः**—बीज में से अंकुर निकालनेवाली शक्ति **खलु बीजे सति समीक्ष्यते सकलैः**—सब से देखी जाती है, कब? बीज होने पर ही। जब कारणरूप बीज ही न होगा तो अंकुर निकालने वाली शक्ति क्या करेगी? शक्ति स्वयं अव्यक्ता है। कार्य से पहचानी जाती है जैसे अंकुर फूटना कारणबीज की अपेक्षा करता है, ऐसे ही विश्व को सत् कारण की अपेक्षा है, क्योंकि असत् में से सत् नहीं निकल सकता ॥७७॥

कारणमसदिति कथयन्वन्ध्यापुत्रेण निर्वहेत्कार्यम्।
किं च मृगतृष्णिकाम्भः पीत्वोदन्यां महीयसीं शमयेत् ॥७८॥

अर्थ—'कारण असत् है' इस प्रकार कहना 'वन्ध्यापुत्र से कार्य निभता है', इस प्रकार कहने के तुल्य है। क्या कहीं कोई मृगतृष्णा नदी के जल को पीकर महान प्यास को बुझा सकता है?

व्याख्या—यदि अविवेकी पुरुष हठबल से कारण को असत् कहेंगे तो उस का फल सुनो। **कारणम् असत् इति कथयन्**—कारण

असत् है, इस प्रकार कहने का अर्थ होगा कि **वन्ध्यापुत्रेण निर्वहेत् कार्यम्**—वन्ध्या के पुत्र से कार्य निर्वाह होता है, अर्थात् वन्ध्या पुत्र जाता है, विवाह करता है, सन्तानोत्पत्ति करता है, वृद्ध होता है, मरता है। तात्पर्य यह है कि यदि तुम कारण को असत् कहोगे तो हम वन्ध्या पुत्र का चरित्र कहेंगे जो कि असंगत है, क्योंकि वन्ध्या-स्त्री वही होती है जिसके संतान न हो, यदि उसके पुत्र है तो वह वन्ध्या नहीं। अभिप्राय यह है कि कारण को असत् कहना वन्ध्यापुत्र की सत्ता कहने के तुल्य है। **किम् च मृगतृष्णिकाम्भः पीत्वा**—क्या मृगतृष्णा नदी का जल पीकर **उदन्याम् महीयसीम् शमयेत्**—कोई महान प्यास का शमन कर सकता है। मरुमरीचिका नदी का जल क्या किसी की महान तृषा बुझा सकता है ? तात्पर्य यह है कि मरुनदी असत् है, क्या उस के जल से प्यास शान्त हो सकती है, अर्थात् नहीं हो सकती ।।७८।।

यस्मान्न सोऽ यमसतो वादः संभवति शास्त्रयुक्तिभ्याम् ।
तस्मात्सदेव तत्त्वं सर्वेषां भवति कारणं जगताम् ।।७९।।

अर्थ—चूंकि वह यह 'असत्वाद' शास्त्र और युक्ति से संभव नहीं है, इसलिये सब जगतों का कारण सत् तत्त्व ही होता है।

व्याख्या—**यस्मात् न सः अयम् असतः वादः संभवति**—अब असत्वाद का उपसंहार करते हैं। चूंकि वह यह असत्वाद जिसे पिछले दो श्लोकों में कहा है, 'कारणमसदिति।' संभव नहीं हो सकता **शास्त्रयुक्तिभ्याम्**—अर्थात् यह पक्ष न शास्त्रसम्मत है और न हि युक्ति की कसौटी पर खरा उतरता है। शास्त्र प्रमाण कौन से हैं ? 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' इति छान्दोग्योपनिषद, ६।२।१, हे सोम्य ! यह जगत् पहले सत्तामात्र था।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इति गीता २।१६।, असत् की सत्ता नहीं होती, सत् का अभाव नहीं होता।

युक्ति क्या है ? 'असतो भवेन्न कारणता', असत् वस्तु किसी का कारण नहीं बन सकती। जो स्वयं ही असत् है, वह अन्य को क्या उपजायेगी ? पिछले श्लोक में वन्ध्या पुत्र और मृगतृष्णा नदी की भी युक्ति दी हैं।

तस्मात् सत् एव तत्त्वम्—इसलिये त्रिकालाबाध्य सत्तावाला तत्त्व ही **सर्वेषाम् जगताम् कारणम् भवति**—सब जगतों का अर्थात् विचित्रनामरूप भेदों से युक्त वर्तमान जगत् का, जो सृष्टियाँ नष्ट हो गई हैं उनका तथा जो आगे उत्पन्न होंगी उनका कारण सत् तत्त्व ब्रह्म ही है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः।' इति तैत्तिरीयोपनिषद ब्रह्मवल्ली।२। उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु। वायु से अग्नि। अग्नि से जल। जल से पृथिवी। पृथिवी से औषध ॥७९॥

जगदाकारतयाऽपि प्रथते गुरुशिष्य-विग्रहतयाऽपि।
ब्रह्माकारतयाऽपि प्रतिभातीदं परात्परं तत्त्वम् ॥८०॥

अर्थ—जगत्रूप से भी, गुरु और शिष्य के शरीर से भी, तथा ब्रह्माजी के आकार से भी वही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मतत्त्व ही प्रकाशित है।

व्याख्या—जगत्-आकारतया अपि प्रथते—विश्वरूप से भी विस्तृत, और अधिक दूर क्यों जायें **गुरुशिष्य-विग्रहतया अपि**—मुझ गुरुरूप से और तुझ शिष्यरूप से भी ब्रह्म ही विराजमान हैं अर्थात् स्वयं ब्रह्म ने ही श्रीगुरुदेव तथा शिष्य का शरीर धारण कर रक्खा है और **ब्रह्मा-आकारतया अपि**—और त्रिमूर्तियों में ब्रह्मा जी के विग्रह से भी, ब्रह्माजी उपलक्षण से कहा है, अतः भगवान विष्णु, शिव तथा अन्य देवगण भी साथ ही समझ लेना। इन सब रूपों से अर्थात् सर्वलोक, सर्वप्राणधारी, सर्वदेव, अधिक क्या मन बुद्धि से ग्राह्य सर्वनामाकार रूप से **प्रतिभाति इदम् परात्परम् तत्त्वम्**—यह सर्व-

श्रेष्ठ, माया से भी सूक्ष्म ब्रह्म तत्त्व ही प्रकाशमान है, अन्य कुछ नहीं, क्योंकि कारण कार्य अभेद होते हैं। 'भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥४॥' अपरोक्षानुभूतिः, वैसे ही शुद्ध चिति (ब्रह्म) तत्काल ही विश्वरूप से प्रकाशित होती है ॥८०॥

सत्यं जगदिति भानं संसृतये स्यादपक्वचित्तानाम्।
तस्मादसत्यमेतन्निखिलं प्रतिपादयन्ति निगमान्ताः ॥८१॥

अर्थ––कच्चे चित्तवालों के लिये, जिन्हें जगत् सत्य भान होता है, संसार है (जन्म मरण है)। इसलिये उपनिषदें इस समस्त जगत् को असत्य प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या––जगत् को सत्य मानने में क्या दोष है? **सत्यम् जगत् इति भानम्**–––जगत् सत्य है, इस प्रकार का ज्ञान, निश्चय जिन को होता है, उनकी क्या गति? **संसृतये स्यात्**––वे संसार के लिये हैं, अर्थात् वे जन्मते हैं, मरते हैं, भवबन्धन से मुक्त नहीं होते। ऐसे कौन लोग हैं? **अपक्वचित्तानाम्**––जिनके चित्त पके नहीं हैं अर्थात् जिनके पाप क्षीण नहीं हैं, जिनके अन्तःकरण में तमोगुण रजोगुण की वहुलता है। ऐसे अशुद्धमन वाले लोगों के लिये जगत् में सत्यत्व बुद्धि जन्म मरण का कारण होती है। **तस्मात्**––इसी वात को दृष्टि में रख कर **असत्यम् एतत् निखिलम् प्रतिपादयन्ति निगमान्ताः**––उपनिषदें इस समस्त विश्व को असत्य प्रतिपादन करते हैं। 'अनुभूतोऽप्ययं लोको, व्यवहारक्षमोऽपि सन्। असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः।' योगशिखोपनिषद ४।१०। अनुभव में आनेवाला व्यवहार योग्य होता हुआ भी यह संसार असत् है, जैसे कि जागने पर स्वप्न।' 'अनित्यं असुखम् लोकम्' इति गीता ९।३३। यह लोक नाशवान और दुःख रूप है। 'जगन्मृषैवेति', श्रीरामगीता। ५७, जगत् मिथ्या ही है ॥८१॥

परिपक्वमानसानां पुरुषवराणां पुरातनैः सुकृतैः।
ब्रह्मैवेदं सर्वं जगदिति भूयः प्रबोधयत्येषः ॥८२॥

अर्थ——पूर्व जन्म में किये शुभ कर्मों के फल से जिनके पाप क्षीण हो गये हैं ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों के लिये यह श्रुति पुनः उपदेश करती है 'यह सब जगत् ब्रह्म ही है।'

व्याख्या——अपक्वमन वालों का निश्चय आपने बताया। पक्वमन वालों का क्या निश्चय होता है ? इस पर कहते हैं **परिपक्वमानसानाम् पुरुषवराणाम्**——जिनके मन पक गये हैं अर्थात् जिनके पाप क्षीण हो गये, प्रवृद्धसत्त्वगुणी, विशुद्धमानस अतः श्रेष्ठ पुरुषों के लिये, ऐसे पुरुष करोड़ों में एकाध मिलते हैं 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' इति स्मृतिः। मनुष्य के पाप क्षीण होने पर ज्ञान उदय होता है। **पुरातनैः सुकृतैः**——विशुद्ध मानस कैसे होता है ? पूर्व जन्मों के अनेकों वर्णाश्रमविहित शुभ कर्मों के प्रभाव से, ऐसे पुरुषधौरेयों का क्या निश्चय होता है ? **ब्रह्मएव इदम् सर्वम् जगत् इति**——यह सब विचित्र नामरूपयुक्त जगत् ब्रह्म ही है 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इति मुण्डकश्रुतिः २।२।११, यह श्रेष्ठ विश्व ब्रह्म ही है **भूयः प्रबोधयति एषः**——पहले श्रुति विश्व को असत् कहती है, पुनः यह विश्व ब्रह्म ही है ऐसा ज्ञान कराती है। आरम्भ में श्रुति ब्रह्म और विश्व का भेद बताने के लिये ब्रह्म को सत्य और विश्व को असत् कहती है, पुनः अभेद का प्रतिपादन करने के लिये ब्रह्म और जगत् की अभिन्नता का उपदेश करती है ॥८२॥

अवगतकाञ्चनानां भूषणधीरेव भूषणे हैमे।
एवमविवेकभाजां जगति जनानां न तात्त्विकी धिषणा ॥८३॥

अर्थ——जिन्होंने अधिष्ठान सुर्वण को नहीं जाना है, सुर्वण भूषण में उनकी भूषणबुद्धि होती है (सुर्वण बुद्धि नहीं)। इसी प्रकार

अविवेकी पुरुषों की जगत् में तात्त्विक बुद्धि नहीं होती ।

व्याख्या—अपक्व और पक्व मन वालों के दृष्टिकोण में क्यों भेद होता है ? बताते हैं। **अनवगतकाञ्चनानाम् भूषणधीः एव हैमे भूषणे**—जिनको सुर्वणाभूषणों में अनुस्यूत सुर्वण का बोध नहीं है उनकी सुवर्णाभूषणों में भूषणबुद्धि होती है, अर्थात् यह किरीट है, यह कुण्डल है, यह केयूर है इत्यादि । यह सुर्वण ही है, ऐसी तात्त्विकी बुद्धि उनकी नहीं होती। **एवम् अविवेकभाजाम् जनानाम्**—उसी प्रकार अविवेकी, स्थूलबुद्धि, तमोगुण रंजित बुद्धि जिनकी है उन पुरुषों की **जगति तात्त्विकीधिषणा न**—संसार में तात्त्विकी दृष्टि नहीं होती अर्थात् वे जगत् के तात्त्विक स्वरूप ब्रह्माधिष्ठान को नहीं देखते। नामरूप जगत में उलझे हुए, एकमात्र अधिष्ठान ब्रह्म में उनकी बुद्धि नहीं है। यह जगत् ब्रह्म ही है, ऐसी बुद्धि उनकी नहीं होती ।।८३।।

अहम् पदके दो अर्थ

अहमालम्बनसिद्धं कस्य परोक्षं भवेदिदं ब्रह्म ।
तदपि विचारविहीनैरपरोक्षयितुं न शक्यते मुग्धैः ॥८४॥

अर्थ—'मैं' पद (निजरूप) के आश्रय से प्रसिद्ध यह प्रत्यक्ष ब्रह्म किसको परोक्ष (दूर) हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता), तो भी विचारहीन मूढ़ पुरुषों से उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता ।

व्याख्या—**अहम्-आलम्बनसिद्धम् इदम् ब्रह्म**—'अहम्' (मैं) पद का आश्रय लेने वाला स्वयं परिपूर्ण परमात्मा, जो ब्रह्म नाम से वर्णित किया जाता है, बुद्धि के निर्विकार साक्षीरूप से अन्त:करण में 'अहम् अहम्' करके स्फुरित होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह महा-वाक्य है, मैं ब्रह्म हूँ। यह ब्रह्म अहंपद से अन्त:करण में प्रकाशित

होता है। ब्रह्म का नाम 'मैं' है **कस्य परोक्षं भवेत्**––यह ब्रह्म किस को परोक्ष है? अर्थात् सर्व का निजरूप होने से सर्व को ही अपरोक्ष है। आत्मा जैसी समीप वस्तु किसको परोक्ष हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। **तदपि**––ब्रह्म नित्य प्राप्त होने पर भी **विचारविहीनैः**––अविवेकियों से, सम्यक् दृष्टिरहितों से, तात्त्विकी-धिषणरहितों से **मुग्धैः**––मोहित पुरुषों से, तमोगुणाभिभूत अन्तः-करणवालों से **अपरोक्षयितुम् न शक्यते**––उस नित्यप्राप्त ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है वे मूढ़ निजरूप ब्रह्म को भी नहीं जानते ॥८४॥

अहमिदमिति च मतिभ्यां सततं व्यवहरति सर्वलोकोऽपि।
प्रथमा प्रतीचि चरमा निवसति वपुरिन्द्रियादिबाह्यार्थे ॥८५॥

अर्थ––सर्व लोग दो प्रकार की बुद्धियों-अहंबुद्धि और इदंबुद्धि-से व्यवहार करते हैं। पहली अहंबुद्धि सर्वान्तरात्मा में लगाई जाती है और पिछली, अर्थात् इदंबुद्धि शरीर इन्द्रियादि बाह्य पदार्थों में निवास करती है।

व्याख्या––अब दो प्रकार की बुद्धियों को बताते हैं। **'अहम् इदम्' इति मतिभ्याम् व्यवहरति सर्वलोकः अपि**––सब आदमी, अपि पद से देवगण भी, ज्ञानी अज्ञानी भी दो प्रकार की बुद्धियों से व्यवहार करते हैं, वे कौन-सी बुद्धियाँ हैं? 'मैं' और 'यह'। यह पद से सर्वबाह्यजगत तथा 'अहम्पद' से अपना आप, निजरूप। त्वम्पद (तू) भी अहम्पद में ही सम्मिलित है। 'त्वं शब्दार्थे य आभाति, सोऽहं शब्दार्थ एव हि। ५।७६। सूतसंहितान्तर्गता ब्रह्मगीता। जो 'तू' शब्द का अर्थ है वह 'मैं' शब्द का अर्थ है। 'इदं बुद्धिश्च बाह्यार्थे त्वहंबुद्धिस्तथाऽऽत्मनि। प्रसिद्धा सर्वजन्तूनां विवादो––ऽत्र न कश्चन॥ सूतसंहितान्तर्गता ब्रह्मगीता। 'यह', इस प्रकार की बुद्धि अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों में, घटपदादि में प्रयुक्त होती है।

और 'मैं' इस प्रकार की बुद्धि आत्मा के लिये, अपने लिये प्रयुक्त होती हैं। ये दो बुद्धियाँ सर्व प्राणियों में प्रसिद्ध हैं। इस में किसी प्रकार का विवाद नहीं।

प्रथमा प्रतीचि—पहली अर्थात् अहंबुद्धि तो आत्मा में लगाई जाती है **चरमा निवसति**—और अन्तिम यानी इदंबुद्धि निवास करती है, कहाँ **वपुः इन्द्रियादि बाह्यार्थे**—देह, इन्द्रिय आदिपद से प्राण, शब्दस्पर्शरूपरसादि विषयों में। वाह्यार्थों में 'यह' बुद्धि का अर्थात् आत्माबुद्धि से भिन्न इदंबुद्धि का प्रयोग होता है ।।८५।।

वपुरिन्द्रियादिविषये याऽहंबुद्धिर्महत्यसौ भ्रान्तिः।
तद्बुद्धिरतस्मिन्नित्यध्यासत्वेन शास्यमानत्वात् ॥८६॥

अर्थ—देह, इन्द्रियादि वाह्य विषयों में जो अहंबुद्धि करना है वह महती भ्रांति है। अनात्म वस्तु में आत्मबुद्धि लगाना अध्यास के शासन (कारण) से होता है।

व्याख्या—अहंबुद्धि और इदंबुद्धि का भेद दिखाकर, अब कहते हैं कि इदंबुद्धि से कहे जाने वाले पदार्थों में अहंबुद्धि लगाना भ्रान्ति है **वपुः इन्द्रियादिविषये**—देह, ज्ञानकर्मेन्द्रिय, आदि पद से प्राण, इन पदार्थों में **या अहंबुद्धिः**—जो अहम्-बुद्धि होती है **असौ महती भ्रान्तिः**—यह महान् भ्रान्ति है। ऐसा कहना कि 'मैं देह हूँ, मैं इन्द्रियगण हूँ' इत्यादि इदंबुद्धि पदार्थों में अहम्बुद्धि का लगाना है। मिथ्याज्ञान का नाम भ्रान्ति है। महती इसलिये कहा कि कर्मोपासना से यह भ्रान्ति भंजित नहीं हो सकती। इसीको अध्यास कहते हैं। **तद् बुद्धिः**—**अतस्मिन् इति**—आत्मबुद्धि, कहाँ? अनात्म वस्तु में करना। अतस्मिन्—जो न हो उस वस्तु में, अनात्म पदार्थों में **तद् बुद्धि**—उस बुद्धि को, आत्मबुद्धि को करना अध्यास कहा जाता है। **अध्यासत्वेन शास्यमानत्वात्**— अध्यास का शासन होने से, अध्यास के

कारण से। देहादि में आत्मा का अभिमान होना अध्यास कहलाता है, इसी को भ्रान्तिज्ञान कहते हैं ॥८६॥

तस्मादशेषसाक्षी परमात्मैवाहमर्थ इत्युचितम् ।
अजडवदेव जडोऽयं सत्संबन्धाद् भवत्यहंकारः ॥८७॥

अर्थ——इसलिये अहम्पद का मुख्यार्थ सर्वसाक्षी परमात्मा है। यह उचित पक्ष है। आत्मा की समीपता से यह जड़ अहंकार चेतन के सदृश भासने वाला (अहम्पद का गौणार्थ) होता है।

व्याख्या——तस्मात्——इसलिये, अर्थात् देहादि में अहंकार भी 'मैं मैं' करके स्फुटित होता है यथा मैं मनोहरलाल शर्मा हूँ। परन्तु यह 'मैं' गौणात्मा है, मुख्यात्मा नहीं, अतः मिथ्या आत्मा है, तो 'अहम्' का सही अर्थ क्या है? **अशेषसाक्षी परमात्मा एव अहम् अर्थः इति उचितम्**—— अहम्पद का मुख्यार्थ सर्वसाक्षी, स्वयं- साक्षी, परमात्मा ही उपयुक्त हैं। तो यह मिथ्यात्मा अथवा असदात्मा क्या है? यदि अहंकार मिथ्या है तो चैतन्य की भांति व्यवहार कैसे करता है? **अजडवत् एव जडः अयम्**——यह तमोमय अचेतन अहंकार चेतन आत्मा की भांति ही है, ऐसा क्यों? **सत् संबन्धात् भवति अहंकारः**——सत् अर्थात् स्वयंप्रकाश आत्मा के सान्निध्य से अतः उसके प्रकाश से प्रकाशित, चेतन-सा होता है, कौन? अहंकार, किस प्रकार? जैसे कि अग्नि में क्षिप्त लोहपिण्ड अग्नि के सदृश दहन और प्रकाश सामर्थ्यवाला सा हो जाता है, वास्तव में वह उधारी क्षमता है। ऐसे ही अहंकार भी आत्मा होने का, आत्मा जैसे सामर्थ्य यानी चेतनता का स्वांग सा भरता है, पर वह है मिथ्या अतः अहम्पद का गौणार्थ अहंकार होता है ॥८७॥

तस्मात्सर्वशरीरेष्वहमहमित्येव भासते स्पष्टः ।
यः प्रत्ययो विशुद्धस्तस्य ब्रह्मैव भवति मुख्योऽर्थः ॥८८॥

अर्थ––इसलिये अहंकार सब शरीरों में 'मैं, मैं' करके अभिमान करता हुआ स्पष्ट भासता है। परन्तु जो विशुद्ध अनुभव प्रतीति है, वह ही अहम्पद का मुख्यार्थ ब्रह्म होता है।

व्याख्या––अब अहम् शब्द का मुख्यार्थ बताते हैं, **तस्मात्**–– इसलिये, संक्षेप में **सर्वशरीरेषु 'अहम्-अहम्' इति एव भासते स्पष्टः**–– अहंकार सब शरीरों में 'मैं मैं' इस प्रकार अभिमान करता हुआ स्पष्ट प्रत्यक्ष स्फुरित होता है। सबके अनुभव में आता है, **यः प्रत्ययः विशुद्धः**––परन्तु, अन्तःकरण के साक्षीरूप से जो विशुद्ध अर्थात् मायोपाधिरहित अनुभूति है, **तस्य**––उस विशुद्ध अनुभवरूप प्रतीति का **ब्रह्मएव मुख्यार्थः भवति**––प्रधान अर्थ ब्रह्म ही है, पर वह स्पष्ट नहीं भासता, उसकी अहंरूप से प्रत्यक्ष अनुभूति महावाक्य के अर्थ सिद्ध होने पर ही होती है। अहंकार भी अपनी अभिव्यक्ति 'मैं मैं' करके ही करता है। 'मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा अमुक कर्तव्य है।' अहम्पद के दोनों अर्थों पर साधक विचार करे। इसी को आत्मा-अनात्मा विवेक कहते हैं ॥८८॥

गोशब्दार्थो गोत्वं तदपि व्यक्तिः प्रतीयतेऽर्थतया।
अहमर्थःपरमात्मा तद्वद् भ्रान्त्या भवत्यहंकारः ॥८९॥

अर्थ––गो शब्द का अर्थ गो जाति है, तो भी अर्थ से गो व्यक्ति प्रतीत होती है। ऐसे ही अहम्पद का अर्थ परमात्मा होता है तो भी मोह से अहंकार प्रतीत होता है।

व्याख्या––यह विषय सूतसंहितान्तर्गता सूतगीता के पाँचवें अध्याय में आया है। इस पर पाँच श्लोक दिये गये हैं। प्रस्तुत श्लोक उनका संग्रहरूपसा है। सूतगीता के श्लोक व्याख्या के अन्त में देंगे। **गोशब्दार्थः गोत्वम्**––यद्यपि 'गो' शब्द का अर्थ गोजाति है **तदपि व्यक्तिःप्रतीयते अर्थतया**––तो भी 'गो' शब्द के अर्थ से गो व्यक्ति

(व्यक्तिगत गौ) प्रतीत होती है, गो-जाति के स्थान पर व्यक्तिगत गौ प्रतीत होती है। **तद्वत् अहम् अर्थः परमात्मा**—उसी प्रकार 'अहम्' पद का वास्तव में तो अर्थ है सर्वानुगत सर्वसाक्षी चैतन्य कूटस्थ परमात्मा, परन्तु **भ्रान्त्या**-अज्ञान के कारण **भवति अहंकारः**—अहम् पद का अर्थ अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीवात्मा दिखाई पड़ता है। तात्पर्य यह है कि 'गोत्व' प्रत्येक गौ में अनुगत है, तो भी व्यक्ति भेद से प्रत्येक गौ, गौ कही जाती है। जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जलपात्रों में प्रतिबिम्बित होने से विभक्त सा दिखाई पड़ता है, वैसे ही एक ही जातिवाचक गौ शब्द गौ व्यक्तिरूप से भिन्न-भिन्न अर्थवाला भासता है।

एक ही चैतन्य परमात्मा नाना प्राणियों में 'अहम्' 'अहम्' करके स्फुरित होता है, परन्तु अज्ञान के कारण भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों के आश्रित होने से वह परमात्मा भेदवाला अर्थात् नाना नामरूप वाला होकर अनेक सा हो जाता है।

अब सूतगीता के पांचवे अध्याय के श्लोक देते हैं :—

गौरिति प्रत्ययस्यार्थो यथा गोत्वं तु केवलम्।
तथाऽहं प्रत्ययस्यार्थश्चिद्रूपात्मैव केवलम् ॥२८॥
व्यक्तिसंवन्धरूपेण गोत्वं भिन्नं प्रतीयते।
चिदहंकारसंबन्धाद् भेदेन प्रतिभाति च ॥२९॥
यथैवैकोऽपि गोशब्दो भिन्नार्थो व्यक्तिभेदतः।
तथैवैकोऽप्यहंशब्दो भिन्नार्थो व्यक्तिभेदतः ॥३०॥
यथा प्रतीत्या गोव्यक्तिर्गोशब्दार्थो न तत्त्वतः।
तत्त्वतो गोत्वमेवार्थः साक्षाद् वेदविदांवराः ॥३१॥
तथा प्रतीत्याऽहंकारोऽहंशब्दार्थो न तत्त्वतः।
तत्त्वतः प्रत्यगात्मैव स एवाखिलसाधकः ॥३२॥

जैसे 'गो' प्रत्यय का अर्थ केवल गो जाति ही है, वैसे ही अहम्पद का अर्थ केवल चेतनात्मा ही है ॥२८॥ विशेष पशु के साथ संबंध होने से गो का अर्थ भिन्न प्रतीत होता है। चेतन और अहंकार के

संबंध से वह आत्मा भेदवाला दिखाई पड़ता है ॥२६॥ जैसे जाति-वाचक गो शब्द, व्यक्तिगत गौ के संबंध से भिन्न अर्थ वाला भासता है, वैसे ही अहम्पद व्यक्तिगत प्राणीभेद से भिन्न अर्थवाला भासता है ॥३०॥ जैसे व्यक्तिविशेष गो, जिसकी प्रतीति होती है, गोपद का तात्त्विक अर्थ नहीं है। वास्तव में तो, हे वेद के जाननेवालों में श्रेष्ठ मुनियो! गो पद का गो जाति प्रत्यक्ष अर्थ है ॥३१॥ वैसे ही प्रतीत होने वाला अहंकार अहम्पद का तात्त्विक अर्थ नहीं है। तत्त्वदृष्टि से अहम्पद का अर्थ सर्वान्तर मुख्यत्मा है। यह ज्ञान सर्व अभिलाषाओं को सिद्ध करने वाला है ॥८६॥

दग्धृत्वादिकमयसः पावकसङ्गेन भासते यद्वत्।
तद्वच्चेतनसङ्गादहमि प्रतिभान्ति कर्तृतादीनि ॥६०॥

अर्थ--जैसे लोहे में अग्नि के संबंध से जलाने का सामर्थ्य भासता है, वैसे ही चेतन आत्मा के संग से अहंकार में कर्तापनादि भासते हैं।

व्याख्या--अनात्मा में आत्मा के धर्म किस प्रकार भासते हैं, दृष्टान्त से समझाते हैं--**दग्धृत्वादिकम् अयसः**--लोहे की दहन करने की शक्ति आदिपद से प्रकाश की शक्ति **पावक-संगेन भासते यद्वत्**--अग्नि के संग से जैसे भासती है। तात्पर्य यह है कि लोहा स्वयं न जला सकता है, और न प्रकाश कर सकता है, परन्तु अग्नि में तप्त लोहा अग्नि के वर्णवाला, अग्नि के सदृश प्रकाशक हो जाता है। **तद्वत् चेतनसंगात् अहमि**--उसी प्रकार अहंकार में चेतन आत्मा की समीपता से **प्रतिभान्ति कर्तृतादीनि**--कर्तापन आदिपद से भोक्तापन भासित होते हैं। तात्पर्य यह है लोहपिण्ड की भांति अहंकार चेतन सा हो जाता है और अपने को आत्मा समझता है। ऐसे अहंकार को मोहित आत्मा कहते हैं। कर्तृत्वादि का अभिमान अन्तःकरण में होता है, वह आत्मा के साथ तादात्म्य करके कहता है 'मैं अमुक कार्य का कर्ता हूँ, अमुक फल का भोक्ता हूँ।' आत्मा में कर्तापन

भोक्तापन नहीं हैं, क्योंकि आत्मा निष्क्रिय है। अकेले अहंकार में कर्तृभाव नहीं हो सकता। जब वह चेतन आत्मा के प्रकाश से चेतन सा होता है, तब अहंकार आत्मा होने का अहंकार करता है, अन्यथा अहंकार स्वयं जड है। इस अहंकार की भी स्फुरणा 'अहम् अहम्' करके होती है। परन्तु यह गौणात्मा है और वेदान्त शास्त्रों में भिन्न-भिन्न नामों से कहा गया है यथा मिथ्यात्मा, असदात्मा, परिमोहितात्मा, विज्ञानमयकोश, जीवात्मा इत्यादि ।।६०।।

देहेन्द्रियादिदृश्यव्यतिरिक्तं विमलमतुलमद्वैतम् ।
अहमर्थ इति विदित्वा तद्व्यतिरिक्तं न कल्पयेत्किंचित् ॥६१॥

अर्थ––देह, इन्द्रियादिक दृश्य पदार्थ से भिन्न निर्मल, निरुपम, अद्वैत परमात्मा अहम्पद का अर्थ है। इस प्रकार जान कर ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की कल्पना न करे।

व्याख्या––देह-इन्द्रियादि दृश्य-व्यतिरिक्तम्––देह यानी स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीर, कर्मज्ञानेन्द्रियां, आदि पद से मन और प्राण समझना ये जो दृश्य, प्रपंच है, इस सब से भिन्न, विलक्षण, और कैसा ? **विमलम्**––शुद्ध, मायामल से रहित **अतुलम्**––निरुपम 'न तत्समः' इति श्वेताश्वतर श्रुति ६।८ उसके समान कोई नहीं है। जो अनुभव प्रमाणसे भिन्न, अन्य प्रमाणसे सिद्ध न किया जा सके, वह अतुल, असदृश-**अद्वैतम्**––सर्वभेद रहित, विजातीय-सजातीय-स्वगतभेद शून्य एक अद्वितीय तत्त्व **अहम् अर्थः**––ऊपर कहे हुए विशेषण अहम्, आत्मा के अर्थ हैं अर्थात् आत्मा दृश्यप्रपंचरहित विमल, अतुल, अद्वैत तत्त्व है **इति विदित्वा**––इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को जान कर क्या करे? अब साधकों को साधना की ओर संकेत करते हैं **तद् व्यतिरिक्तम्**––उस आत्मा-तत्त्व से भिन्न, अन्यत् **न कल्पयेत् किंचित्**––किसी की कल्पना न करे। यह सब जगत् आत्मा है, उस से भिन्न कुछ नहीं। यदि दृश्यवस्तु की कल्पना भी हो तो भी उसे ब्रह्म-अभिन्न जाने, अथवा ठगनी माया

का कार्य जान कर उपेक्षा करे। सर्वत्र आत्मदर्शन करे 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' इति मुण्डकश्रुति, एक आत्मा को ही जानो, अन्य बातें छोड़ दो ॥९१॥

विविध विषय

यद्वत्सुखदुःखानामवयवभेदादनेकता देहे।
तद्वदिहासति भेदेऽप्यनुभव-वैविध्यमात्मनामेषाम् ॥९२॥

अर्थ—जैसे एक देह में अंगोपांगभेद से सुखदुःखों की अनेकता है वैसे ही ब्रह्म में, भेद असत् होने पर, अनुभवों की विचित्रता के कारण इन जीवात्माओं में अनेकता है।

व्याख्या—यद्वत् सुखदुःखानाम् अवयव-भेदात् देहे अनेकता—जैस एक ही शरीर में भिन्न-भिन्न अंगोपांगों के भेद के कारण सुखदुःखों के भेद होते हैं यथा 'मेरी आँख पीड़ा करती है, मेरे पेटमें दर्द है, मेरा हृदय पुष्ट है' इत्यादि। सुखदुःखकी अनुभूति तो एक ही है, पर अंगों के भेद से सुखदुःख में भिन्नता सी भासती है **तद्वत् इह असति भेदे अपि अनुभव वैविध्यम् आत्मनाम् एषाम्**—उसी प्रकार अद्वैत ब्रह्म में भी यद्यपि भेद मिथ्या, असत् है, 'नेह नानास्ति किंचन' इति कठश्रुतिः २।६।११। ब्रह्म में नानापन नहीं है, तो भी अज्ञानवश अनुभवों की भिन्नता के कारण ही इन जीवात्माओं में भेद भासता है। तात्पर्य यह कि ब्रह्म निर्भेद है, तो भी नाना अन्तःकरणों में जो अनुभव की भिन्नता का आभास है, उसी कारण से ब्रह्म में भेद दिखाई पड़ता है ॥९२॥

किमिदं किमस्य रूपं कथमिदमासीदमुष्य को हेतुः।
इति न कदाऽपि विचिन्त्यं चिन्त्यं मायेति धीमता विश्वम् ॥९३॥

अर्थ——यह जगत् क्या है ? इसका क्या स्वरूप है ? यह किस प्रकार हुई ? इस का कारण क्या है ? इस प्रकार कभी भी चिन्तन न करे। चतुर मुमुक्षु से विचार किया जाये कि विश्व मायामात्र है।

व्याख्या——आत्मदर्शन के उपरांत मायिक पदार्थों की विचित्रता में कौतुहल न करे। **किम् इदम्**——यह जगत् क्या है? **किम् अस्य रूपम्**——? इसका क्या स्वरूप है ? **कथम् इदम् आसीत्**——यह पहले किस प्रकार उत्पन्न हुई ? **अमुष्य कः हेतुः**——इस का कौन कारण है **इति कदापि न विचिन्त्यम्**——मायिक पदार्थों को देख कर उनके खोज निकालने में न प्रवृत्त हो, उनकी विशेषताओं का चिन्तन न करे। क्यों ? इसलिये कि उनकी विचित्रता, स्वरूप, उत्पत्ति आदि के अनुसंधान करने से उस में सत्यत्व बुद्धि दृढ़ होती है। यदि उन का चिन्तन भी करना पड़े तो उन के संबंध में किस प्रकार चिन्तन करे ? इस पर कहते हैं **चिन्त्यम् माया इति धीमता विश्वम्**——विवेकी पुरुष द्वारा ऐसा चिन्तन किया जाये कि यह विश्व मायामात्र है अतः असत् अनात्मक है, 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।' विवेकचूडामणि ।४०६।, यह द्वैत माया द्वारा कल्पित है, वास्तव में यह अद्वैत ही है, 'भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वम्' अष्टावक्रगीता १५।१७, यह विश्व अज्ञानमात्र है ।।६३।।

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि तत्रैव ।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते ॥६४॥

अर्थ——(स्थूलदृष्टि से) लकड़ी के हाथी में लकड़ी का तिरोहन हो जाता है। (सूक्ष्मदृष्टि से) लकड़ी में हाथी छिप जाता है (अर्थात् यह काष्ठमात्र है)। इसी प्रकार दृष्टिभेद से जगत में परमात्मा छिप जाता है, और परमात्मा में जगत् भी छिप जाता है।

व्याख्या——**दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति**——स्थूलदृष्टि से देखने से लकड़ी के कार्य लकड़ी के हाथी में लकड़ीरूप कारण नहीं दिखाई पड़ता। कारण तिरोहित, छिप जाता है यानी हाथी

दिखाई देता है, लकड़ी नहीं **सः अपि तत्र एव**—और सूक्ष्मदृष्टि से देखने से हाथी का कारण अर्थात् लकड़ी दिखाई पड़ती है। यह लकड़ीमात्र है। हाथी का तिरोहन हो जाता है। हाथी कल्पित है। ऐसे ही **जगति तथा परमात्मा**—मूढ़ों की दृष्टि में नामरूपात्मक जगत् सत्य भासता है और परमात्मा जो कि इसका निमित्तोपादान कारण है, अथवा अधिष्ठान है, मूढ़ों को नहीं दिखाई देता, परन्तु विवेकी पुरुषों के लिये **परमात्मनि अपि जगत् तिरोधत्ते**—परमात्मा में जगत् लय हो जाता है। उन्हें जगत् सत्य नहीं दिखाई पड़ता वरन् उसका सत्यरूप अधिष्ठान परमात्मा दिखाई पड़ता है। जगत् परमात्मा में कल्पित है, सत्य नहीं, परमात्मा सत्य है, इस प्रकार दिखाई पड़ता है। ९४।।

आत्ममये महति पटे विविध-जगच्चित्रमात्मना लिखितम्।
स्वयमेव केवलमसौ पश्यन्प्रमुदं प्रयाति परमात्मा ॥९५॥

अर्थ—आत्मरूपी महान पर्दे पर विचित्र जगतचित्र माया से लिखित हैं। 'मैं ही अकेला विश्वरूप हूँ' इस प्रकार देख कर परमात्मा प्रसन्न होता है।

व्याख्या—**आत्ममये महति पटे विविध जगत्-चित्रम्**—आत्मा नामक एक महान पट, परदा है, जैसे कि सिनेमा में होता है। उस पट पर भांति-भांति के जगत् नामक चित्र **आत्मना लिखितम्**—परिमोहितात्मारूपी चितेरे से लिखे गये हैं, कल्पित किया गया है। **स्वयम् एव केवलम् असौ पश्यन्**—उस विश्व को देख कर जीव स्वयं भयभीत होता है, और मोहित हुआ संसार-भय निवारण करने में असमर्थ, चिन्तित हो उठता है। संसारार्क से संतप्त वह सद्गुरु की खोज में जाता है, और पूर्वजन्म के पुण्यप्रभाव से सद्गुरु के उपदेश से आत्मसाक्षात्कार करता है। जब उसे आत्मबोध होता है तब पूर्वकालीन भयावह संसार को देख कर चकित

होता है और क्या कहता है 'मैं ही अकेला यह जगत्‌रूप हूँ' और इस अभेददर्शन से **प्रमुदम् प्रयाति परमात्मा**—वह परमात्मा प्रसन्न होता है, अर्थात् अपने स्वरूप में आनन्द विभोर हो जाता है ।।६५।।

चिन्मात्र-ममल-मक्षय-मद्वय-मानन्द-मनुभवारूढम् ।
ब्रह्मैवास्ति तदन्यन्न किमप्यस्तीति निश्चयो विदुषाम् ॥९६॥

अर्थ—'शुद्धज्ञान, मायामलरहित, अविनाशी, अद्वितीय आनन्द, ब्रह्म ही है, उस से भिन्न कुछ भी नहीं है', विद्वानों का इस प्रकार का निश्चय होता है ।

व्याख्या—चिन्मात्रम्, अमलम्, अक्षयम्, अद्वयानन्दम्, अनुभवारूढम् ब्रह्म एव अस्ति—उस परमात्मा का स्वरूप बताते हैं । वह शुद्ध चेतन ज्ञानरूप है, मायाकलंक से रहित है, अव्यय अविनाशी है, द्वैतरहित आनन्दरूप है, तथा अनुभवरूप है अर्थात् उसको निर्विकल्प समाधि में अनुभव से जाना जाता है, मन वाणी का विषय नहीं है । इन विशेषताओं वाला ब्रह्म ही है । **तत्-अन्यत् न किम् अपि अस्ति**—उस ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं है, न हो सकता है, न होना संभव है और न कभी हो सकेगा **इति निश्चयः विदुषाम्**—ब्रह्मवेत्ताओं का ऐसा दृढ़ अनुभवसिद्ध निश्चय होता है ।।९६।।

व्यवहारस्य दशेयं विद्याऽविद्येति भेदपरिभाषा ।
नास्त्येव तत्त्वदृष्ट्या तत्त्वं ब्रह्मैव नान्यदस्त्यस्मात् ॥९७॥

अर्थ—व्यवहार दशा में ही विद्या और अविद्या का भेद होता है । वास्तव में ऐसा भेद नहीं ही होता है । तत्त्वदृष्टि से तो एक ब्रह्मतत्त्व ही है । इससे भिन्न कुछ नहीं है ।

व्याख्या—ज्ञान और अज्ञान का भेद भी केवल समझाने के लिये ही । वास्तव में भेद नहीं है । **व्यवहारस्य दशा-इयम् विद्या अविद्या इति भेदपरिभाषा**—व्यवहार की दशा में ही अर्थात् व्यवहार दृष्टि

से ही विद्या-ज्ञान और अविद्या-अज्ञान इन दोनों का भेद है। विद्या और अविद्या की परिभाषा यानी इनका भेदज्ञान व्यवहार अवस्था में ही, परन्तु **तत्त्वदृष्ट्या न अस्ति एव**––परन्तु परमार्थ सत्ता में ज्ञान और अज्ञान का भेद नहीं है। यथार्थ दृष्टि से भेद नहीं है। **तत्त्वम् ब्रह्म एव**––परमार्थदृष्टि से एकतत्त्व निर्भेद ब्रह्ममात्र ही है **न अन्यत् अस्ति अस्मात्**––इस ब्रह्म से भिन्न विद्या अविद्या कुछ नहीं है सूतसंहितान्तर्गता ब्रह्मगीता का प्रमाण देते हैं :––

व्यावहारिकदृष्टयय़ं विद्याऽ विद्या न चान्यथा ।
तत्त्वदृष्टया तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ।।' ४।३०।

व्यावहारिक दृष्टि से ही विद्या और अविद्या हैं, और किसी कारण से नहीं हैं। तत्वदृष्टि से ये नहीं है, केवल एक ब्रह्मतत्त्व है ।।६७।।

अस्त्यन्यदिति मतं चेत्तदपि ब्रह्मैतदस्तितारूपम् ।
व्यतिरिक्तमस्तितायां नास्तितया शून्यमेव तत्सिद्धम् ।।६८।।

अर्थ––यदि यह माना जाये कि ब्रह्म से अन्य है, तो भी वह अस्तिता रूप से ब्रह्म ही है। अस्तिता (सत्ता) से भिन्न नास्तिता रूप से (अभाव रूप से) शून्य ही होता है। यह प्रसिद्ध बात है।

व्याख्या––**अस्ति अन्यत् इति मतम् चेत्**––यदि तुम यह मानो कि ब्रह्म से भिन्न कुछ है, अर्थात् किसी की सत्ता है **तदपि ब्रह्म एतत् अस्तिता रूपम्**––तो हमारा कहना है कि अस्तिता रूप अर्थात् सत्ता-रूप से ब्रह्म ही वह अन्यत् नाम से कही जाने वाली वस्तु है। सत्ता ब्रह्म का लक्षण है, यदि अन्यत् वस्तु की सत्ता है तो वह ब्रह्म लक्षण से युक्त ब्रह्म ही है। **व्यतिरिक्तम् अस्तितायाः**––सत्ता से भिन्न तो **नास्तितया शून्यम् एव**––'नास्तिपन' से, सत्तारहितता से शून्य ही होता है, **तत् सिद्धम्**––यह बात प्रसिद्ध ही है। तात्पर्य यह है कि सत्ता ब्रह्म का लक्षण है। जहाँ भी सत्ता होगी वहीं ब्रह्म होगा, नामरूप तो काल्पनिक हैं। यदि कोई कहे कि ब्रह्म से भिन्न है,

तो हमारा कहना है कि भिन्नता का होना दोष नहीं, परन्तु उस भिन्नता की सत्ता तो है। जिसकी सत्ता है, वही ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्म सर्व का अधिष्ठान है, परन्तु जो अभावरूप हो उसकी सत्ता नहीं होती, अतः वह शून्य है ।।९८।।

तत्त्वावबोधशक्त्या सुस्थितया बाधिताऽपि सा माया ।
आदेहपातमेषामाभात्यात्मानमपि निजं विदुषाम् ॥९९॥

अर्थ––दृढ़ तत्त्वज्ञान की शक्ति से बाधित हुई भी वह माया, शरीरपात होने तक, विद्वानों को निजस्वरूप से आत्मा का दर्शन कराती है।

व्याख्या––ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी क्या नामरूपात्मक विचित्र गठित जगत दिखाई देता है ? इस शंका को दृष्टि में रख कर श्रीगुरु कहते हैं **सुस्थितया तत्त्व-अवबोधशक्त्या**––दृढ़ ब्रह्मज्ञान की शक्ति से, आत्मसाक्षात्कार होने से **बाधिता अपि सा माया**––माया का बाध किये जाने पर भी यानी उसमें सत्यत्व बुद्धि नष्ट होने पर भी **आदेहपातम्**––जब तक शरीरपात न हो तब तक **आभाति आत्मानम् निजम्**––यह माया निजरूप आत्मा को दर्शाती है। माया का प्रयोजन मुमुक्षुओं को आत्मदर्शन कराना है, और मूढ़ों का बाँध कर मारना है। 'माया कहे पुकार के, सुनो सन्त निष्काम। सब जी मारूं बाँध कर, तुम्हें मिलाऊँ राम।' सन्त नित्यानन्द। जी-मूढ़प्राणी, जीवात्मा। आत्मा का अनुसंधान अविद्याकल्पित पंचकोशों के विवेक से होता है। माया की इतनी ही उपयोगिता है। किसको ? **एषाम् विदुषाम् अपि**––इन तत्त्ववेत्ताओं को भी। प्रयोजन यह है कि समाधि काल में तो माया तथा उसके कार्य का अत्यन्त अभाव हो जाता है, परन्तु व्युत्थान काल में स्वप्न में देखे हुए दृश्य की ही भांति माया और माया का कार्य भासता है। वह सत्य नहीं भासता, ब्रह्मरूप ही भासता है। यही तत्त्ववेत्ताओं का अनुभव है ।।९९।।

एष विशेषो विदुषां पश्यन्तोऽपि प्रपञ्चसारम्।
पृथगात्मनो न किञ्चित्पश्येयुः सकलनिगमनिर्णीतात् ॥१००॥

अर्थ——तत्त्ववेत्ताओं की दृष्टि में यह विशेषता है कि प्रपंचविस्तार को देखते हुए भी वे अपने आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखते, क्योंकि समस्तवेदान्त का यही निर्णय है।

व्याख्या——मूढ़ों को भी जगत भासता है और ज्ञानियों को भी, तो उनमें अन्तर क्या रहा? इन शंका के निवारणार्थ श्रीगुरु कहते हैं, **एष विशेषः विदुषाम्**—— जगदावलोकन में तत्त्ववेत्ताओं की यह विशेषता है **पश्यन्तोऽपि प्रपञ्चसारम्**——स्थूल पंचभूत निर्मित जगद्-विस्तार को देखते हुए भी **पृथक् आत्मनः न किञ्चित् पश्येयुः**—— आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखते, अर्थात् वे देखते हैं कि आत्मा ही जगत् रूप से भासता है, 'पण्डिताः समदर्शिनः' इति गीता ५।१८।, तत्त्ववेत्ता लोग विचित्र रूपवती जगती में उसके अधिष्ठान सम (ब्रह्म) को ही देखते हैं। क्यों? **सकलनिगमनिर्णीतात्**—समस्त वेदों का ऐसा अभ्रान्त निर्णय होने से 'ब्रह्मणो ऽन्यन्न वि द्यते।' योगशिखोपनिषद ४।३, ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। 'सर्वं खल्विदं-ब्रह्म'। छान्दोग्य ३।१४।१, यह सव जगत् ब्रह्म है। 'पुरुष एवेदं सर्वम्।' पुरुष-सूक्त, यह जगत् ब्रह्म ही है, इत्यादि श्रुतियों के प्रमाण हैं ।।१००।।

किं चिन्त्यं किमचिन्त्यं कथनीयं किमप्यकथनीयम्।
किं कृत्यं किमकृत्यं निखिलं ब्रह्मेति जानतां विदुषाम् ॥१०१॥

अर्थ——जो तत्त्ववेत्ता सकल विश्व को ब्रह्मरूप से जानते हैं, उनके लिये न तो कुछ चिन्तन का विषय रहता है, न कुछ अचिन्तन का, न कुछ कहने को रहता है, न कुछ छिपाने को रहता है, न कुछ कर्तव्य रहता है, और न ही अकर्तव्य।

व्याख्या——सर्वात्मसिद्धि होने पर ज्ञानवानों का क्या कर्तव्य रहता है ? श्रीगुरु बताते हैं **किम् चिन्त्यम् किम् अचिन्त्यम्**——वे किस का चिन्तन करें, ध्यान करें ? बोधवान किस का चिन्तन न करें ? अर्थात् बोधवानों के लिये कोई ऐसी अप्राप्य वस्तु नहीं रहती जिसके लिये कि वे चिन्तन करें, और न हि कोई ऐसी त्याज्य वस्तु है जिसका वे विस्मरण करें। ब्रह्म मन का विषय नहीं है। **कथनीयम् किम् अपि अकथनीयम्**——किस नई वार्ता को वे कहें, और किसका निषेध करें यानी न कहने को कुछ रहता है, और न छिपाने को कुछ रहता है। ब्रह्म वाणी का विषय न ीं है, **किम् कृत्यम् किम् अकृत्यम्**——क्या क रना चाहिये, क्या न करना चाहिये यानी क्या कर्तव्य है क्या अकर्तव्य है——ये सव विकल्प **निखिलम् ब्रह्म इति जानताम् विदुषाम्**—— 'यह सव प्रपंचविस्तार ब्रह्म ही है', इस प्रकार अनुभव से जानने वाले ब्रह्मवेत्ताओं को नहीं रहते। तात्पर्य यह है कि जिन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार क र लिया, उनको पीछे सर्वात्मसिद्धि प्राप्त होती है, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'. छान्दोग्य-श्रुतिः ३।१४।१, यह सव जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। जव सव कुछ ब्रह्म निजरूप ही है, तो कर्तव्यता कहाँ से रहेगी। कर्तव्यता तथा अकर्तव्यता दोनों ही अज्ञान में प्रतिष्ठित हैं।

निखिलं दृश्यविशेषं दृग्रूपत्वेन पश्यतां विदुषाम्।
बन्धो नापि न मुक्तिन परमात्मत्वं न चापि जीवत्वम् ॥१०२॥

अर्थ——समस्त दृश्यविशेष को साक्षीरूप से देखने वाले तत्त्ववेत्ताओं को न बन्ध है, न मुक्ति, न परमात्मा और न ही जीव।

व्याख्या——अव अन्तिम सत्य वताते हैं। **निखिलं दृश्यविशेषं दृग्रूपत्वेन पश्यतां विदुषाम्**——समस्त दृश्य को साक्षीरूप से देखने वाले तत्त्वज्ञों के लिये। यहाँ आपने 'निखिल' समस्त यानी सामान्य और 'विशेष' दोनों शब्दों का क्यों प्रयोग किया है ? दृश्य और द्रष्टा सापेक्षिक शब्द हैं। जव भी

दृश्य होगा तभी द्रष्टा भी होगा। इस लिये जिस जिस दृश्य को द्रष्टा जिस काल में देखेगा, उस उस काल में वही दृश्य विशेष हो जायेगा। समस्त दृश्य-प्रपंच में से कोई भी अंश किसी काल में विशेष हो सकता है। ऐसे अपने को निर्विकार साक्षी मानने वाले ब्रह्मवेत्ताओं के लिये।

बन्धो नापि न मुक्ति र्न परमात्मत्वं न च अपि जीवत्वम्— न बन्ध, देहाध्यास, देहात्मबुद्धि है, और बन्ध के अभाव में मुक्ति भी नहीं है, क्योंकि मुक्त तो वही होगा जो बंध-युक्त हो। बन्ध और मुक्ति सापेक्षिक शब्द हैं, और जब बन्ध अर्थात् माया भी नहीं है तो ईश्वरता कहाँ से होगी और यदि अविद्या भी नहीं है तो जीव कहाँ से होगा। अत्रहेतु, 'व्यवहारस्य दशेयं विद्याऽविद्येति भेदपरिभाषा'। व्यवहारदृष्टि से ही विद्या तथा अविद्या का भेद है, अन्यथा परमार्थसत्ता में बंधमोक्षादि नहीं हैं। वह परमार्थसत्ता क्या है? मौन, अर्थात् उसका न तो मन चिन्तन कर सकता है, न ही वाणी व्यक्त कर सकती है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह 'इति तैत्तिरीय श्रुतिः २।४।' उस ब्रह्म को वाणी मन सहित प्राप्त किये बिना ही लौट आती है। अन्य श्रुति में इस प्रकार कहा है :—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न वद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षु र्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥'

यह मंत्र आत्मोपनिषद में ३१ वाँ मंत्र है, और अमृतबिन्दूपनिषद में १० वाँ मंत्र है, और माण्डूक्योपनिषद के वैतथ्य प्रकरण में ३२ वीं कारिका है। परमार्थ की दृष्टि से न मृत्यु है, न उत्पत्ति है, न कोई बंधा है, न कोई साधक है, न मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है ॥१०२॥

असकृद-नुचिन्तितानामव्याहततर-निजोपदेशानाम्।
प्रामाण्य-परमसीम्नां निगमनमिदमेव निखिल-निगमानाम्॥१०३॥

अर्थ–यह उपदेश सब उपनिषदोंका सार है। ये उपनिषदें प्रामाणिकता की चरम सीमा हैं। आत्मा-संबंधी इनके उपदेश अव्यर्थ हैं। इन उपनिषदों का बहुत वार अनुचिन्तन किया है। उसका सार सिद्धान्त प्रस्तुत ग्रंथ है।

व्याख्या––अब श्रीगुरुदेव अपने उपदेश की विशेषता बताते हैं। मेरा उपदेश सब श्रुतियाँ का सार है। **असकृत्-अनुचिंतितानाम्**–– पुन: पुन: अनुचिन्तन, गुरुमुख से पढ़कर गम्भीर विचार किया गया है जिन शास्त्रोंका, और कैसे हैं वे शास्त्र ? **अव्याहततर-निज-उपदेशानाम्**– आत्मज्ञान संबंधी जिनके उपदेश अकाट्य हैं, अविफल हैं, ऐसा क्यों ? **प्रामाण्यपरमसीम्नाम्**––क्योंकि वे शास्त्र प्रामाणिकता की दृष्टि से अन्तिम सीमा हैं, अर्थात् उनसे ऊँची प्रामाणिकता अन्य कहीं उपलब्ध नहीं, उन सर्वोपरि प्रामाणिकता वालों का। अप्रमाणिकता का कलंक दूर करने के लिये ऐसा कहा है। वे कौनसे ग्रंथ हैं ? **निखिल-निगमानाम्**––समस्त उपनिषदों का **निगमनम् इदम् एव**––साररूप सिद्धान्त ही मेरा यह उपदेश है।

तात्पर्य यह है कि मैंने समस्त वेदान्त शास्त्रों का गुरुमुखसे गम्भीर अध्ययन करके, तथा बारम्बार उनपर विचार करके और अभ्यास करके आत्मसाक्षात्कार किया है, अत: मैं श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विज्ञानी गुरु हूँ, और मेरा उपदेश अव्यर्थ है। मेरे उपदेश का आधार उपनिषदें हैं जो कि प्रामाणिकता में अनुपम हैं। मेरा यह उपदेश उपनिषदों का तथा अनुभव का सार है ।।१०३।।

यहाँ उपदेश समाप्त हो जाता है।

अकारदि क्षकारान्ता अनुभवमालिका

इति बोधितः स गुरुणा शिष्यो हृष्टः प्रणम्य तं पदयोः।
स्वानुभव-सिद्धमर्थं स्वमेवान्तर्विचारयामास ॥१०४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीगुरु से स्व-स्वरूप में जगाया हुआ शिष्य श्रीगुरुदेव के चरणों में प्रणाम करके अपने अनुभव से सिद्ध अर्थ का अपने आप ही भीतर विचार करने लगा।

व्याख्या—इति बोधितः स गुरुणा शिष्यः—'इति' उपदेश-समाप्तिसूचकपद है। पिछले १०३ श्लोकों में जो उपदेश दिया है उसके प्रभाव से सद्गुरु द्वारा स्वरूप में जगाया हुआ शिष्य। ब्रह्म-विद्या के श्रवण से वह सकलज्ञानसाधनसम्पन्न शिष्य, तमोगुण नाश से सूक्ष्म बुद्धि हुआ तथा रजोगुणनाश से एकाग्र बुद्धि आ, निर्विकल्प समाधि में डूब गया। इसी को स्वरूप में जागना कहते हैं। इसी को महावाक्य की सिद्धि कहते हैं, तथा ज्ञान की चतुर्थी भूमिका भी इसी स्थिति को कहते हैं। यह अवस्था प्राप्त होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। वह शिष्य **हृष्टः प्रणम्य तं पदयोः**—अभीष्ट ब्रह्मविद्या को प्राप्त करके, समाधि के परम सुख को प्राप्त करके हर्षित हुआ कृतज्ञता प्रदर्शन के लिये स्वगुरु के चरणों में प्रणाम करके। यह स्मरण रहे कि पूर्व में यह शिष्य संसाररू ी अग्नि से तपायमान था, परन्तु ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त होने पर अब यह शिष्य हृष्ट-मानस है।

स्व-अनुभव-सिद्ध-अर्थम्—अपने आत्मा के अनुभव से प्राप्त अर्थ, प्रयोजन को, निर्विकल्प समाधि में आत्मदर्शन से सिद्ध अर्थ को **स्वयम् एव**—अपने आप ही **अन्तर् विचारयामास**—भीतर ही भीतर विचार करने लगा। किसी को सुना कर नहीं कहा। आत्म-साक्षात्कार की महान सिद्धि प्राप्त होने से संसार के प्रति उसका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह विचित्र नामरूपात्मक जगत् आत्मरूप ही दिखाई पड़ता है। उस बदले हुए दृष्टिकोण से जगत् को तोलते हैं।।१०४।।

ग्रंथ का प्रयोजन तो यहाँ पूरा हो जाता है, परन्तु ज्ञानवान का अनुभव बताना आवश्यक है, अतः अगले ४० श्लोकों में अनुभव बताया गया है। अनुभव बताकर शिष्य पुनः गुरुमहिमा कहेगा।

स्व-स्वरूप में प्रबुद्ध शिष्य अकारादि क्षकारान्ता अक्षरमालिका में अपने अनुभव से सिद्ध अर्थ पर विचार करता है, व्यक्त नहीं करता, परन्तु सर्वज्ञ भगवान भाष्यकार उन्हीं विचारों को साधकों के उत्साह के लिये ज्यों का त्यों स्वयं व्यक्त करते हैं। सभी नाम 'अ' से लेकर "क्ष' तक के अक्षरों में आ जाते हैं। वाणी का जितना भी विषय है उसका अकारादि क्षकारन्ता अक्षरमालिका में अन्तर्भाव है। तात्पर्य यह है कि जितना नामरूपात्मक दृश्यप्रपंच है, वह सब मुझ आत्मा में ही कल्पित है, अर्थात् मुझ से अभिन्न है। मैं अधिष्ठान आत्मा ही आरोपित वस्तु होकर भासता हूँ।

ब्रह्मविद्या का यह नियम है कि पहले 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य सिद्ध किया जाता है, अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है, उसके पश्चात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति छान्दोग्य श्रुतिः ३।१४।१, इस महावाक्य की अनुभूति होती है। यह सब जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। इस ग्रंथ में १०३ श्लोक तक 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ बताने का प्रयोजन है और श्लोक १०५ स लेकर १४५ तक 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' श्रुति का अर्थ खोला है।

ब्रह्मविद्या के अभ्यास करने वालों के लिये यह क्रम जानना आवश्यक है, अतः हमने बता दिया है। इस विषय में भगवान भाष्यकर के ही वचनों का प्रमाण देते हैं। 'आदौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्' इति शतश्लोकी ।।३।। पहले 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव के उदय होने पर पीछे 'यह सब जगत् ब्रह्म है' का अनुभव ोता है।

अजरोऽ हमक्षरोऽहं प्राज्ञोऽहं प्रत्यगात्मबोधोऽहम् ।
परमानन्दमयोऽहं परमशिवोऽहं भवामि परिपूर्णः ॥१०५॥

अर्थ—मैं अजर हूँ, मैं अविनाशी हूँ, मैं स्थितप्रज्ञ हूँ, मैं आत्मज्ञान हूँ, मैं परमानन्दयुक्त हूँ, मैं परम मंगलमय हूँ, मैं अनन्त हूँ ।

व्याख्या—**अजरः अहम्**—मैं वृद्धावस्थारहित हूँ **अक्षरः अहम्**—मैं अव्यय, अविनाशी, एकरस हूँ **प्राज्ञः अहम्**—मैं बोधवान हूँ, अथवा स्थितप्रज्ञ हूँ, **प्रत्यक् आत्मबोधः अहम्**—सर्वान्तर आत्मा का ज्ञान मैं हूँ, **परमानन्दमयः अहम्**—मैं अतिशय आनन्दपूर्ण हूँ **परम-शिवः अहम् भवामि**—मैं अतिशय मंगलरूप हूँ **परिपूर्णः**—मैं चारों ओर से पूर्ण, अनन्त हूँ ।।१०५।।

आद्योऽ हमात्मभाजा-मात्मानन्दानुभूति-रसिकोऽहम् ।
आबालगोप-मखिलैरहमित्यनुभूयमान-महिमाऽहम् ॥१०६॥

अर्थ—मैं सर्वप्रथम हूँ, आत्मा का ध्यान करनेवालों में मैं आत्मानन्द के अनुभव का रसिक हूँ । मैं इस प्रकार की महिमा वाला हूँ कि बच्चे से लेकर गवाले तक सब से 'मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव किया जाता हूँ ।

व्याख्या—**आद्यः अहम्**—मैं सर्वप्रथम हूँ यानी मुझ से पहले कोई नहीं **आत्मभाजाम् आत्मानन्द-अनुभूतिरसिकः अहम्**—आत्मा का ध्यान करने वालों के मध्य में मैं आत्मानन्द के अनुभव का रसिक (रस लेने वाला) हूँ **आबालगोपम्-अखिलैः**—चञ्चल बुद्धि बच्चों से लेकर स्थूलबुद्धि गोपालों तक तथा अन्य सब से **अहम् इति अनुभूयमान-महिमा अहम्**—अहम्रूप अर्थात् निजरूप से अनुभव होने योग्य महिमा वाला मैं हूँ । तात्पर्य यह है कि मेरी (मुझ आत्मा की) ऐसी महिमा है कि क्या बच्चा क्या गोपाल

क्या विद्वान् सभी मुझे निजरूप से 'मैं हूँ' इस प्रकार अनुभव करते हैं ।।१०६।।

इह-परसुखविमुखोऽहं निजसुखबोधानुभूतिभरितोऽहम् ।
इतिमतिदूरतरोऽहं भावेतर-सुखनिषक्तचित्तोऽहम् ॥१०७॥

अर्थ——इस लोक और परलोक के सुख से मैं विमुख हूँ। मैं आत्मानन्द और ज्ञान के अनुभव से पूर्ण हूँ। मैं 'इतिमति' से वहुत दूर हूँ। विषय-सुख से भिन्न आतमसुख में डूबा हुआ मैं हूँ।

व्याख्या——**इह-परसुख-विमुखः अहम्**——मैं इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त, अनासक्त हूँ, ऐसा क्यों? **निजसुखबोधानुभूति-भरितः अहम्**——क्योंकि मैं अपने स्वरूप के आनन्द के ज्ञान से भरा हुआ हूँ। मेरी अन्तर्मुखीवृत्ति होने से विषयभोगों से मैं विमुख हूँ। वहिर्मुखवृत्ति विषयों का आलम्बन करती है, अन्तर्मुखी नहीं **'इतिमति' दूरतरः अहम्**——मेरा स्वरूप 'ऐसा' है अथवा 'वैसा' है, इस प्रकार की सीमाओं से मैं अतीत हूँ। मन, बुद्धि, वाणी का अविषय होने से मेरे स्वरूप को किन्हीं शब्दों से भी नहीं वाँधा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि मैं मौनरूप हूँ। **भावेतर-सुख निषक्तचित्तः अहम्**——विषयसुख से विलक्षण अर्थात् ब्रह्मानन्द में डूबे हुए चित्तवाला मैं हूँ। तात्पर्य यह है मुझे ब्रह्माकारवृत्ति प्राप्त है, अतः मैं भाववृत्ति अर्थात् घटाकार-पटाकार वृत्ति से रहित हूँ ।।१०७।।

ईशोऽहमीश्वराणामीर्ष्या - द्वेषानुषंगरहितोऽहम् ।
ईक्षणविषय-मतीनामीप्सितपुरुषार्थ-साधनपरोऽहम् ॥१०८॥

अर्थ——मैं ईश्वरों का ईश्वर हूँ। मैं ईर्ष्या द्वेष की आसक्ति

से रहित हूँ। जिनकी बुद्धि ईक्षण विषय में लगी है उनके लिये मैं काँक्षित पुरुषार्थ सिद्ध करने में तत्पर हूँ।

व्याख्या—ईशः अहम् ईश्वराणाम्—मैं ईश्वरों का भी स्वामी हूँ 'ईश्वराणां परमं महेश्वरम्' इति श्वेताश्वतरश्रुतिः, मैं ईश्वरों का परम महा-ईश्वर हूँ। **ईर्ष्या-द्वेष-अनुषङ्ग-रहितः अहम्**—मुझे सर्वात्मभाव प्राप्त हो गया है, अतः मुझे अपने से भिन्न कुछ भी नहीं भान होता। ईर्ष्या-दूसरे की उन्नति में असहिष्णुता, द्वेष-वृथा निन्दा, दूसरे की अनिष्ट की अभिलाषा, जो कि रजोगुण युक्त मन के घोर धर्म हैं, मुझ में नहीं है, ईर्ष्या-द्वेष से मैं शून्य हूँ। **ईक्षणविषय-मतीनाम्**—रूपादि विषय में जिनका मन लगा हुआ है उनके, अथवा आत्मदर्शन में जिनका मन लगा हुआ है उनके **ईप्सित-पुरुषार्थ-साधन-परः अहम्**—आकांक्षित पुरुषार्थ को—भोग-स्वर्गापवर्ग-सिद्ध करने में मैं तत्पर हूँ ॥१०८॥

उदयोऽहमेव जगतामुपनिषदुद्यान-कृतविहारोऽहम्।
उद्वेलशोकसागर-वाडवमुख - हव्यवाहनार्चिरहम् ॥१०९॥

अर्थ—मैं ही भिन्न सृष्टियों का उदय हूँ, मैं उपनिषदरूपी उद्यान में विहार करने वाला हूँ। उत्ताल तरंगों वाले दुःखसागर का शोषण करने वाली वडवानल की मैं ज्वाला हूँ।

व्याख्या—उदयः अहम् एव जगताम्—भूत-वर्तमान तथा भविष्य में होनेवाली सृष्टियों का उदय, उत्पत्ति मैं ही हूँ, अर्थात् समस्त सृष्टियां मुझमें ही अध्यस्त हैं **उपनिषत्-उद्यान-कृतविहारः अहम्**—उपनिषदें ही हैं उद्यान, उनमें विहार करने वाला मैं हूँ। मैं औपनिषद् पुरुष हूँ। तात्पर्य यह है कि मैं वेदान्तज्ञान में रमण करता हूँ। यदि तुम मुझे खोजना चाहते हो तो मैं उपनिषदों के उद्यानों में ही खेलता मिलूँगा। यानी अद्वैत वेदान्त-ज्ञान से ही मैं पाया जा

सकता हूँ। **उद्वेलशोकसागर-वाडवमुख-हव्यवाहन-अर्चिः अहम्**--उत्ताल तरंगों वाला जो दुःखरूप दुस्तर संसारसागर है, उसको शोषण करने के लिये घोड़े के मुखवाले अग्नि की ज्वाला मैं हूँ। समुद्र की अग्नि को बडवानल कहते हैं। इसका मुख घोड़े जैसा है। तात्पर्य यह है कि संसार दुःख का घर है। इसका कारण अज्ञान है। ज्ञान अज्ञान का नाश करता है। अज्ञान के नाश होने पर संसार की दुःखरूपता भी नष्ट हो जाती है ॥१०९॥

ऊर्जस्वल-निजविभवै-रूर्ध्वमधस्तिर्यगश्नुवानोऽहम्।
ऊहापोहविचारै - रुररीकृतवत्प्रतीयमानोऽहम् ॥११०॥

अर्थ--मैं अपनी उदार शक्तियों से ऊपर, नीचे तथा मध्य में व्याप्त हूँ। खंडनमंडन से उत्पन्न विचारों से स्वीकृत सा होकर मैं प्रतीत होता हूँ।

व्याख्या--ऊर्जस्वलनिज-विभवैः--अपने उदार सामर्थ्यों से-सत्तारूपता, ज्ञानरूपता, अनन्तरूपता आदि अचिन्त्य शक्तिशाली गुणों से **ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् अश्नुवानः अहम्**--मैं सृष्टि के ऊर्ध्वभाग, ब्रह्म लोकादि में निम्नभाग, पातालादि लोक तथा मध्यभाग, भूलोक में व्याप्त हूँ। यहाँ आत्मा की सर्वव्यापकता कहने में प्रयोजन है **ऊहापोहविचारैः उररीकृतवत्प्रतीयमानः अहम्**--खण्डन मंडन के विचारों से अर्थात् युक्ति से सिद्ध सा होकर प्रतीत होने वाला मैं हूँ। प्रयोजन यह है कि युक्तियों से आत्मानुभव नहीं होता, वरन् विचार से ब्रह्म का परोक्षज्ञान हो जाता है। अपरोक्षज्ञान का अनुभव तो निर्विकल्प समाधि में ही होता है ॥११०॥

ऋषिरहमृषिगणकोऽहं दृष्टिरहं दृश्यमानमहमेव।
ऋद्धिरहं वृद्धिरहं तृप्तिरहं तृप्तिदीपदीप्तिरहम् ॥१११॥

अर्थ--मैं ऋषि हूँ, मैं ऋषियों का समूह हूँ। मैं द्रष्टा हूँ,

मैं दृश्यप्रपंच हूँ। मैं ऋद्धि हूँ, मैं विकास हूँ, मैं संतुष्टि हूँ, मैं तृप्ति-रूप दीपक का प्रकाश हूँ।

व्याख्या—ऋषिः अहम्—मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मर्षि तथा राजर्षि मैं हूँ। ऋषि पद से दोनों प्रकार के ऋषि लेने चाहियें। **ऋषि-गणकः अहम्**—वशिष्ठ विश्वामित्रादि सप्तर्षिगण मैं हूँ, **दृष्टिः अहम्**—साक्षी द्रष्टा मैं हूँ तथा **दृश्यमानम् अहम् एव**—साक्ष्य दृश्य भी मैं ही हूँ। साक्षी और साक्ष्यजगत् अथवा द्रष्टा और दृश्यप्रपंच ये दोनों शब्द एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। **ऋद्धिः अहम्**—जगत् में दृश्यमान ऐश्वर्य मैं हूँ, वृद्धिः **अहम्**—आध्यात्मिक और लौकिक उन्नति, विकास मैं हूँ। **तृप्तिः अहम्**—ब्रह्मानन्द से निरंकुशातृप्ति तथा वैषयिक सुखजा संतुष्टि मैं हूँ, **तृप्तिदीप-दीप्तिः अहम्**—संतुष्टिरूप दीपक का प्रकाश मैं हुँ ॥१११॥

एकोऽहमेतदीदृशमेवमिति स्फुरितभेदरहितोऽहम्।
एष्टव्योऽहमनीहैरन्तः सुकृतानुभूतिभूतोऽहम् ॥११२॥

अर्थ—मैं एक हूँ, 'यह' 'ऐसा' 'इस प्रकार' प्रत्ययों से प्रकाशित होने वाले भेद से मैं रहित हूँ। मैं ईप्सित फल हूँ। मैं वासना-रहित पुरुषों के अन्तःकरण मे अच्छे प्रकार अनुभूत होता हूँ।

व्याख्या—एकः अहम्—मैं एक अद्वितीय तत्त्व हूँ अर्थात् विजातीय-सजातीय-स्वगतभेदशून्य एकतत्त्व हूँ, अतः **एतत् ईदृशम् एवम् इति**—'ब्रह्म यह है' 'ब्रह्म ऐसा है' 'ब्रह्म इस भाँति है' इन प्रत्ययों से **स्फुरितभेदरहितः अहम्**—भास्यमान भेद, नानात्व से मैं रहित हूँ, मैं निर्भेद हूँ **एष्टव्यः अहम्**—ईप्सित वस्तु मैं हूँ, मैं आत्मा सर्व का प्रियतम होने से सब की चाही हुई वस्तु हूँ **अनीहैः अन्तः सुकृत-अनुभूतिभूतः अहम्**—वासनारहित पुरुषों द्वारा अन्तःकरण में अच्छे प्रकार से अनुभूत मैं हूँ ॥ ११२ ॥

ऐक्यावभासकोऽहं वाक्यपरिज्ञान - पावनमतीनाम्।
ऐशमहमेव तत्त्वं नैशतमः शायमोह-मिहिरोऽहम् ॥११३॥

अर्थ——महावाक्य से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान, उससे पवित्र वुद्धिवालों के लिये मैं जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता के अनुभव का प्रकाशक हूँ। मैं ही ईश्वरतत्त्व हूँ। रात्रि के घने अंधकार के सदृश अज्ञान का नाशक मैं ज्ञानसूर्य हूँ।

व्याख्या——**ऐक्याभाव-अवसाभकः अहम्**——मैं जीवात्मा और परमात्मा की एकता का प्रकाशक हूँ। किनके लिये? **वाक्य-परिज्ञान-पावन-मतीनाम्**——तत्त्वमसि महावाक्य से उत्पन्न जो सम्यक् ज्ञान है, उस ज्ञान से जिन की वुद्धि पवित्र हो गई है अर्थात् प्रवल सत्त्व-गुण के उदय से जिनकी बुद्धियों में व्याप्त रजोगुण तथा तमोगुण दव गये हैं, यानी जिनको ब्रह्माकारवृत्ति उपलब्ध हो गई है उनके लिये मैं ब्रह्म के अद्वितीयत्व के अनुभव का प्रकाशक हूँ। **ऐशम् अहम् एव तत्त्वम्**——ईश के भाव का नाम 'ऐश', वह ईश्वर तत्त्व भी मैं ही हूँ। सर्वज्ञता-सर्वशक्तिमत्ता-स्वतंत्रतादि विशेषणों से युक्त ईश्वर मैं ही हूँ। **नैशतमः प्रायमोह-मिहिरः अहम्**——निशा, रात्रि के घने अंधकार के सदृश आत्मा के अज्ञान का नाशक ज्ञानसूर्य मैं हूँ ॥११३॥

ओजोऽहमौषधीनामोतप्रोतायमानभुवनोऽहम् ।
ओंकार-सारसोल्लसदात्मसुखामोद-मत्तभृङ्गोऽहम् ॥११४॥

अर्थ——मैं औषधियों में प्रभाव हूँ। मैं भुवनों में ओतप्रोत हूँ। ओंकाररूपी कमल से उठी हुई आत्मानन्द की सुगन्ध पर मतवाला भंवरा मैं हूँ।

व्याख्या——**ओजः अहम् औषधीनाम्**——औषधियों में ओज अर्थात् रोगनाशक प्रभाव मैं हूँ। **ओतप्रोतायमान-भुवनः अहम्**——समस्त भुवन समुदाय मुझ से व्याप्त हैं, अर्थात् मैं पट में तन्तुओं (धागों) की भांति सव लोकों में ओतप्रोत हूँ। यहाँ आत्मा की सर्वव्यापकता

बताई है। **ओंकार - सारस-उल्लसत् - आत्मसुख- आमोद-मत्तभृंगः अहम्**——ओंकाररूपी कमल से उत्थित जो ब्रह्मानन्दरूप सुगन्ध, उसका रसिक मस्त भ्रमर मैं हूँ। तात्पर्य यह है कि मैं आत्मानन्द का, विषय-सुख का नहीं, रसिक हूँ। ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है, ओंकारोपासना से अन्त में निर्विकल्प समाधि प्राप्त होकर ब्रह्मदर्शन होता है। ओंकार-रोपासना का क्रम सूक्ष्मरूप से श्रीरामगीता में लिखा है। उस पर हमारी ब्रह्मविवेचनी प्रदीपिका देखें ॥११४॥

औषधमहम-शुभानामौपाधिक-धर्मजालरहितोऽहम् ।
औदार्यातिशयोऽहं विविध-चतुर्वर्ग-वितरणपरोऽहम् ॥११५॥

अर्थ——मैं पापों का नाशक हूँ। मैं उपाधियों के गुणसमूहों से रहित हूँ। मैं परम उदारता हूँ। नाना प्रकार के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, चार पुरुषार्थों के फलों को वितरण करने में मैं तत्पर हूँ।

व्याख्या——औषधम् अहम् अशुभानाम्——मैं अशुभ यानी पापों का औषध अर्थात् नाशक हूँ। परमात्मवासना से दुर्वासनाओं का क्षय होता है **औपाधिक-धर्मजाल-रहितः अहम्**——मैं उपाधियों के, स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों के धर्म समुदाय से रहित हूँ। स्थूलशरीर का जन्ममरणादि धर्म, सूक्ष्म शरीर का कर्तापन भोक्तापन धर्म तथा कारण-शरीर का धर्म आनन्दाच्छादित अज्ञान मुझ आत्मा में नहीं हैं। **औदार्या-तिशयः अहम्**——मुमुक्षुओं के लिये मैं अत्यन्त उदार मोक्षपद हूँ **विविध चतुर्वर्ग-वितरणपरः अहम्**——धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चतुर्वर्ग, चार पुरु-षार्थ कहलाते हैं। जो जिस पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये यत्न करता है, मैं ईश्वररूप होकर उस यत्न का फल देने में तत्पर हूँ —॥११५॥

अङ्कुशमहमखिलानां महत्तया मत्तवारणेन्द्राणाम् ।
अम्बरमिव विमलोऽहं शम्बर-रिपुजात-विकृतिरहितोहऽम् ॥११६॥

अर्थ—मैं महान होने से समस्त मदोन्मत्त हाथियों के पतियों के लिये अंकुश हूँ। मैं आकाश के सदृश निर्मल हूँ। मैं कामदेवकृत विकारों से रहित हूँ।

व्याख्या—महत्तया—सर्व से महान होने के कारण, 'महतो महीयान्' इति कठश्रुति १।२।२० ब्रह्म महान से भी महान है **अंकुशम् अहम् अखिलानाम् मत्तवारणेन्द्राणाम्**—मैं समस्त मस्त हाथियों के यूथपतियों को नियन्त्रण में लाने के लिये अंकुश हूँ। 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' इति कठश्रुति, २।३।२, ब्रह्म महान भय है, उठाया हुआ वज्र है। मैं उठे हुए वज्र के सदृश दंडक हूँ। मैं ने वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा बाँधी है, उसको तोड़ने वाले प्रतिषिद्धकर्मी उद्दंड दैत्यपतियों को दंड देने में अंकुश के सदृश मैं हूँ। **अम्बरम् इव विमलः अहम्**—मैं आकाश के सदृश निर्मल हूँ, मायारूपी वायु से उड़ाये हुए धूम धूलि आदि विकारों से असंस्पृष्ट हूँ। **शम्बररिपुजात-विकृतिरहितः अहम्**—शम्वर नामक दैत्य को मारने वाले प्रद्युम्न, जो कि कामदेव के अवतार है। कामदेव से उत्पन्न विकारों से मैं रहित हूँ। मैं कामवासना शून्य हूँ ॥११६॥

अस्तविकल्पमतीनाम-स्खलदुपदेश-गम्यमानोऽहम्।
अस्थिर-सुखविमुखोऽहं सुस्थिर-सुखबोधसंपदुचितोऽहम् ॥११७॥

अर्थ—ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं के अव्यर्थ उपदेश से मैं प्राप्त होता हूँ। विषयजन्य सुख से मैं विमुख हूँ। नित्यानन्द और सम्यक् ज्ञानरूपी सम्पदा के उपयुक्त मैं हूँ।

व्याख्या—अस्तविकल्पमतीनाम्—जिनके अन्तःकरण में से संकल्प विकल्प निकल गये हैं, निःसंकल्प, वासनाशून्य, आप्तकाम ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुओं के **अस्खलत्-उपदेश-गम्यमानः अहम्**—एकतात्पर्य, अव्यर्थ, अविचलित ब्रह्मविद्या के उपदेश से प्राप्त होने वाला मैं हूँ। **अस्थिर-सुख-विमुखः अहम्**—इन्द्रियजन्य विषयसुख से विमुख, अनासक्त मैं

हूँ, परन्तु **सुस्थिर-सुख-बोधसंपत् उचितः अहम्**––स्थाईसुख, नित्यानन्द, निरालम्ब ब्रह्मानन्द और सम्यक् ज्ञानरूपी सम्पदा, लक्ष्मी के उपयुक्त मैं हूँ ।।११७।।

करुणारसभरितोऽहं कवलित-कमलासनादिलोकोऽहम् ।
कलुषाकृतिविधुरोऽहं कल्मषसुकृतोपलेपरहितोऽहम् ॥११८॥

अर्थ––मैं अकारण कृपा के रस से भरा हुआ हूँ। मैं ब्रह्मादि लोकों को निगलने वाला हूँ। मैं पापस्वरूप से रहित हूँ। मैं पाप पुण्य के संबंध से रहित हूँ।

व्याख्या––**करुणारसभरितः अहम्**––मुमुक्षुओं के लिये मैं अकारण कृपारस से पूर्ण हूँ **कवलित कमलासनादिलोकः अहम्**––महाप्रलय के समय ब्रह्मा, आदि पद से शिव विष्णु के लोकों को निगलने वाला मैं हूँ **कलुषाकृतिविधुरः अहम्**––मैं पापस्वरूप से रहित हूँ, अर्थात् मैं मंगलमयं सौम्यमूर्ति हूँ **कल्मष - सुकृत - उपलेप - रहितः अहम्**––पाप पुण्य के लेप, स्पर्श से रहित हूँ, अर्थात् मैं पापपुण्य, धर्माधर्म से लिपायमान नहीं होता। पापपुण्य अन्तःकरण के धर्म हैं, मुझ आत्मा के नहीं 'न पुण्यपापे' इति कैवल्यश्रुति, मुझे पुण्यपाप नहीं है ।।११८।।

खानामगोचरोऽहं खातीतोऽहं खपुष्प-भवगोऽहम् ।
खलजनदुरासदोऽहं खण्डज्ञानापनोदनपरोऽहम् ॥११९॥

अर्थ––मैं इन्द्रियों से अगोचर हूँ। मैं इन्द्रियों से अतीत हूँ। आकाशपुष्प की भांति संसार मुझ में कल्पित है। मैं दुष्टों से अप्राप्य हूँ। मैं द्वैतज्ञान दूर करने में तत्पर हूं।

व्याख्या–– **खानाम् अगोचरः अहम्**––मैं कर्मज्ञानेन्द्रियों से अगोचर, अप्राप्य, हूँ अर्थात् मैं इन्द्रियों का विषय नहीं हूँ, अतः **खातीतः अहम्**––मैं इन्द्रियों से, अथवा माया से अतीत हूँ। **खपुष्पभवगः अहम्**––आकाशपुष्प की भांति जो संसार है, उस के भीतर मैं प्राप्त हूँ, अर्थात् मैं ही असत् वस्तु का अधिष्ठान हूँ **खलजनदुरासदः**

अहम्——संसार में सत्यबुद्धि रखने वाले मूढ़ों से, विषयलोलुप पुरुषों से, गुरु वेद के वचनों में श्रद्धारहित पुरुषों से, विवेकवैराग्यशून्य साधकों से मैं दुष्प्राप्य हूँ **खण्डज्ञान-अपनोदनपरः अहम्**——द्वैतज्ञान का नाश करने में मैं तत्पर हूँ ।।११९।।

गलितद्वैतकथोऽहं देहीभवदखिलमूल-हृदयोऽहम् ।
गन्तव्योऽहमनीहै-र्गत्यागतिरहित-पूर्णबोधोऽहम् ॥१२०॥

अर्थ——मुझ में द्वैतानुभूति नष्ट हो गई है। जीवभाव का जो सार मूलकारण, अज्ञान है उस का आश्रय मैं हूँ। निर्वासित पुरुषों का गन्तव्यस्थान मैं हूँ। गति-अगति रहित पूर्ण ज्ञान मैं हूँ।

व्याख्या——**गलितद्वैतकथः अहम्**——जिसकी द्वैतानुभूति नष्ट हो चुकी है, वह मैं हूँ, अर्थात् अब मुझे द्वैत नहीं दिखाई पड़ता। यह जगत् ब्रह्माकार भासता है **देही-भवदखिल-मूलहृदयः अहम्**——जीवभाव का सब का साररूप जो मूलकारण अज्ञान है, उसका आश्रय मैं हूँ। 'मत्तः स्मृतिज्ञानमपोहनम् च' इति गीता **गन्तव्यः अहम् अनीहैः**——मैं ही मुमुक्षुओं का निर्वासित पुरुषोंका गन्तव्यस्थान, मोक्षपद हूँ, 'गतिर्भर्ता इति गीता, किसका गन्तव्यपद? **गति-अगति-रहित-पूर्णबोधः अहम्**——अनन्त सर्वाधिष्ठान और सर्वव्यापी होने से मैं आत्मा गमनागमन से रहित हूँ, क्योंकि सर्वभुवन मुझ से पूरित हैं, मैं कहाँ जाऊँ? मैं पूर्ण ज्ञानरूप, चैतन्यरूप हूँ ।।१२०।।

घनतर-विमोह-तिमिरप्रकर-प्रध्वंसभानुनिकरोऽहम् ।
घटिका-वासर-रजनी-वत्सर-युग-कल्पकालभेदोऽहम् ॥१२१॥

अर्थ——गाढ़े अज्ञानान्धकार के समूह को नाश करने वाला मैं ज्ञानभानु की किरणजाल हूँ। घड़ी, दिन, रात, वर्ष, युग, कल्प-रूप से काल का विभाग मैं हूँ।

व्याख्या— **घनतर-विमोहतिमिर-प्रकर-प्रध्वंस-भानुनिकरः अहम्**—गाढ़े अज्ञान के अन्धकार के समूह को नाश करनेवाला मैं ज्ञानभानु का किरणजाल हूँ **घटिक-वासर-रजनी-वत्सर-युग-कल्प कालभेदः अहम्**—मैं ही काल के विभाग घड़ी (२४ मिनिट) दिन, रात, वर्ष, युग, (सत्य, १७२८,००० वर्ष, त्रेता १,२९६,००० वर्ष, द्वापर ८६४,००० वर्ष, कलियुग ४३२,००० वर्ष,) तथा कल्प (ब्रह्मा जी का एक दिन, एक सहस्र युग, अर्थात् ४३२० लाख मनुष्य-लोक के वर्ष) हूँ। प्रयोजन यह है कि काल की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, मैं ही समय हूँ। मैं ही काल के छोटे बड़े भेद हूँ ।।१२१।।

चरदचरदात्मकोऽहं चतुरमति-श्लाघनीय-चरितोऽहम् ।
चपलजनदुर्गमोऽहं चञ्चलभवजलधि-पारदेशोऽहम् ॥१२२॥

अर्थ—मैं चर-अचर जगत् का आत्मा हूँ। कुशलबुद्धि पुरुष का मैं प्रशंसनीय चरित्र हूँ। चञ्चलवृत्तिवाले पुरुष के लिये मैं दुष्प्राप्य हूँ। क्षुब्धसंसारसागर से पारवाला देश मैं हूँ।

व्याख्या—**चरत्-अचरत्-आत्मकः अहम्**—मैं ही (अचरत्) जड़ (चरत्) जंगम जगत् का आत्मा, अधिष्ठान हूँ। **चतुरमति-श्लाघनीय-चरितः अहम्**—मैं ही निष्काम बुद्धिवालों का प्रशंसनीय चरित्र हूँ, व्यवहार हूँ **चपलजनदुर्गमः अहम्**—चञ्चल अर्थात् असंस्कृत बुद्धिवाले पुरुष के लिये मैं दुर्गम्य हूँ। मेरा अनुभव सूक्ष्म तथा एकाग्रबुद्धि से हो सकता है। विक्षिप्त बुद्धि से नहीं **चञ्चलभवजलधि-पारदेशः अहम्**—मैं क्षुब्ध, तरंगित संसारसागर के पार वाला देश हूँ, अर्थात् मैं माया और उसके कार्य से अतीत हूँ। शमदमादिगुणों से युक्त पुरुष मेरे देश में प्रवेश पा सकता है ।।१२२।।

छन्दःसिन्धु-निगूढज्ञान-सुखास्वाद-मोदमानोऽहम् ।
छलपद-विहितमतीनां छन्नोऽहं शान्तिमार्गगम्योऽहम् ॥१२३॥

अर्थ—वेदसागर में निहित ब्रह्मज्ञान के आनन्द के आस्वादन से

मोदमनानेवाला मैं हूँ। कपटविशिष्ट बुद्धिवालों के लिये मैं अप्रकाशित हूँ। शान्तिदान्ति साधनों से मैं प्राप्य हूँ।

व्याख्या——छन्दःसिन्धु-निगूढ़ज्ञान-सुखास्वाद-मोदमानः अहम्—— वेदमहासागर में छुपे हुए अद्वैतज्ञानान्द के स्वाद से तृप्त हर्ष मनानेवाला मैं हूँ **छलपद-विहित-मतीनाम् छिन्नः अहम्——**कपट से विशिष्ट मतिवाले पुरुषों से मैं छुपा रहता हूँ। 'सत्यमेव जयते' इति मुण्डक श्रुतिः ३।१।६, सत्य की जय होती है। तात्पर्य यह है कि कलुषित बुद्धिवालों को मुझ आत्मा का दर्शन नहीं होता। क्यों? **शान्ति-मार्गगम्यः अहम्——**क्योंकि शान्ति-दान्ति-उपरित आदि साधनों से मेरा दर्शन होता है ॥१२३॥

जलजासनादिगोचर-पञ्चमहाभूत-मूलभूतोऽहम्।
जगदानन्दकरोऽहं जन्म-जरा-मरण-रोगरहितोऽहम् ॥१२४॥

अर्थ——ब्रह्मादि देवता शब्दस्पर्शादि पंच विषय, पंचमहाभूत तथा उनके कारण पंच सूक्ष्ममहाभूत-इन सब का अधिष्ठान मैं हूँ। संसार को आनन्द करनेवाला मैं हूँ। मैं जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग से रहित हूँ।

व्याख्या—— जलजासनादिगोचर-पंचमहाभूतमूलभूतः अहम्—— ब्रह्मा आदि देवगण, शब्दस्पर्शादि इन्द्रियों के विषय, आकाशवायु, आदि स्थूल पंच महाभूत तथा स्थूलभूतों का मूलकारण सूक्ष्म पंच महाभूत——इन सब का अधिष्ठान मैं हूँ। देवगण, महाभूतादि मुझ आत्मा में ही कल्पित है। **जगत्-आनन्दकरः अहम्——**मैं सृष्टि को आनन्दित करने वाला हूँ, क्योंकि मैं आनन्दस्वरूप हूँ। **जन्म-जरा-मरण-रोगरहितः अहम्——**मैं जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग से रहित हूँ, क्योंकि ये सब स्थूलदेह के धर्म है, मुझ आत्मा के नहीं ॥१२४॥

झंकृति-हुंकृति-शिञ्जित-बृंहितमुख-विविधनादभेदोऽहम्।
झटिति घटितात्मवेदन-दीप-परिस्फुरित-हृदयभवनोऽहम् ॥१२५॥

अर्थ—झंकृति, हुंकृति, शिञ्जित्-बृंहित आदि नाद के नाना प्रकार के भेद मैं हूँ। तत्काल उत्पन्न होने वाले आत्मज्ञान के दीपक की स्फूर्ति जिसके हृदय में होती है, उसका आश्रय मैं हूँ।

व्याख्या—झंकृति - हुंकृति - शिञ्जित - बृंहितमुख - विविध-नादभेदः अहम्—नाद (ध्वनि) के विभिन्न भेद, यथा झंकृति, हुंकृति, शिञ्जित-बृंहित आदि मैं ही हूँ। नृत्यकला में इन भिन्न नादों का दिग्दर्शन होता है। झंकृति-झंकार की ध्वनि झंकृति। भ्रमरादि शब्द, मधुपकुल झंकार। हुंकृति—नासिका के सहयोग से हुकार की मुखध्वनि, हुंकार ध्वनि। 'हुं हुं हुं हुंकाररूपिण्यै।' कुंजिका स्तोत्र, हुंकाररुपा भगवती के लिये। धनुषटंकार की ध्वनि। शिञ्जित—रिमझिम रिमझिम जैसी ध्वनि, नूपुरध्वनि। 'कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितम्।' न तो यह राजहंसों की कंठध्वनि है, और न ही नूपुर की रिमझिम। बृंहित-बढ़ी हुई, ऊँची ध्वनि, हाथी की चिंघाड़ जैसी ध्वनि। 'झणझण-झि-झिमि-झिंकृत-नूपुर-शिञ्जित-मोहितभूतपते।' पुष्पांजलि स्तोत्र। नृत्यकाल में उत्थित झंकार और नूपुरों की रिमझिम से भगवान शंकर को मोहित करने वाली। **झटिति-घटित-आत्मवेदन-दीप-परिस्फुरित-हृदयभवनः अहम्**—तत्काल होने वाला आत्मज्ञानरूप दीपक जिसके हृदय में प्रकाशित हो, उसका आश्रय मैं हूँ ॥१२५॥

ज्ञानमहं ज्ञेयमहं ज्ञाताऽहं ज्ञानसाधनगणोऽहम्।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयविनाकृत - मस्तित्वमात्रमेवाहम् ॥१२६॥

अर्थ—मैं ज्ञान हूँ, मैं ज्ञेय हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, मैं ज्ञानसाधनों का समूह हूँ, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरहित मैं सत्तामात्र ही मैं हूँ।

व्याख्या—ज्ञानम् अहम्—मैं ब्रह्मज्ञान हूँ। 'ब्रह्म अद्वितीय तत्त्व है, जीव और जगत् ब्रह्म ही है, नामात्मक जगत् मिथ्या है।'

इस प्रकार के ज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहते हैं। **ज्ञेयम् अहम्**––मैं ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य तत्त्वम्पदों का लक्ष्यार्थ ब्रह्म हूँ। **ज्ञाता अहम्**–– मैं जानने वाला हूँ, **ज्ञानसाधनगणः अहम्**––मैं अमानित्वादि ज्ञान-साधनों का समूह हूँ, **ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय-विनाकृतम्–अस्तित्वमात्रम् एव अहम्**––मैं ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय त्रिपुटी रहित सत्तामात्र ही हूँ ॥१२६॥

तत्त्वातीतपदोऽहं तनुरहमस्मीति भावरहितोऽहम् ।
तामसदुरधिगमोऽहं तत्त्वंपदबोधबोध्यहृदयोऽहम् ॥१२७॥

अर्थ––मैं छत्तीस तत्त्वों से अतीत पद हूँ, 'मैं देह हूँ' इस प्रकार के भाव से रहित हूँ। मैं तमोगुणी पुरुष से दुर्गम हूँ। मैं 'तत्' और 'त्वम्' पदों के लक्षितार्थ के बोध से जानने योग्य स्वरूपवाला हूँ।

व्याख्या––तत्त्व-अतीतपदः अहम्––मैं छत्तीस तत्त्वों से अतीत, परे पद हूँ, अर्थात् मायातीत हूँ, **'तनुः अहम् अस्मि' इति भावरहितः अहम्**––'मैं देह हूँ' इस प्रकार की भावना से रहित हूँ। देह नाशवान है, मैं अविनाशी तत्त्व हूँ। **तामस-दुरधिगमः अहम्**––मैं तमोगुणाच्छन्न अर्थात् अत्यन्त स्थूल बुद्धि वालों से दुष्प्राप्य हूँ, **तत्त्वंपदबोध-बोध्यहृदयः अहम्**––वेद के 'तत्त्वमसि' महावाक्य में जो तत् तथा त्वम्पद हैं, उनके लक्ष्य के ज्ञान से मैं बोधित होता हूँ। मेरा स्वरूप महावाक्य के अनुभवज्ञान से व्यक्त होता है ॥१२७॥

दैवत-दैत्य-निशाचर-मानव-तिर्यङ्महीधरादिरहम् ।
देहेन्द्रियरहितोऽहं दक्षिणपूर्वादि-दिग्विभागोऽहम् ॥१२८॥

अर्थ––देवता, दैत्य, राक्षस, मनुष्य, पशु-पक्षी, पर्वतादि मैं हूँ। मैं देह-इन्द्रिय रहित हूँ। मैं दक्षिण, पूर्वादि दिशाओं का विभाग हूँ।

व्याख्या––दैवत - दैत्य - निशाचर - मानव - तिर्यक् - महीधरादिः

अहम्—देवता, दितिपुत्र दैत्य, राक्षस, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियाँ, पर्वत—इन सब का आदि अर्थात् उत्पत्तिकारण मैं हूँ। अथवा आदिपद से वनस्पति भी ले सकते हैं। नाना नामकार जगत् रज्जु में सर्प की भांति मुझ आत्मा में अध्यस्त हैं। **देह-इन्द्रिय रहितः अहम्**—देह ज्ञानकर्मेन्द्रियों से मैं रहित हूँ, 'सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्' गीता १३।१४।३ ब्रह्म सब इन्द्रियों से रहित है, **दक्षिण-पूर्वादि-दिग्विभागः अहम्**—मैं ही दक्षिण, पूर्व, आदिपद से उत्तर पश्चिम तथा ईशानादि चारों कोण और ऊपर नीचे दिशाओं के दश विभाग हूँ ॥१२८॥

धर्माधर्ममयोऽहं धर्माधर्मादि-बंधरहितोऽहम् ।
धार्मिकजनसुलभोऽहं धन्योऽहं धातुरादिभूतोऽहम् ॥१२९॥

अर्थ—मैं धर्म-अधर्ममय हूँ। मैं धर्म-अधर्मादि के बन्धन से रहित हूँ। मैं पुण्यवान पुरुष को सुलभ हूँ। मैं धन्य हूँ। मैं ब्रह्म का आदि कारण हूँ।

व्याख्या—धर्म-अधर्ममयः अहम्—पुण्य-पाप मुझ में ही कल्पित हैं **धर्म-अधर्मादि-बन्धरहितः अहम्**—शास्त्रों में जो धर्माधर्म का विधान अर्थात् विधिनिषेध बता रक्खा है, उनके बन्धनों से रहित मैं हूँ। विधिनिषेध देहाभिमानियों पर लागू होते हैं, मैं विध्वस्तबंध हूँ, अतः विधि निषेध की मर्यादा मुझ पर लागू नहीं होती। आदि पद से निद्रालस्यादि निरर्थक कर्म समझना। **धार्मिकजनसुलभः अहम्**—वैदिक धर्म में तत्पर पुरुषों के लिये मैं सुलभ हूँ। **धन्यः अहम्**—आत्मसाक्षात्कार होने से मैं धन्य, अहोभाग्य हूँ। **धातुः आदिभूतः अहम्**—ब्रह्मा, आदि पद से विष्णु और शिवरूप मैं हूँ, अथवा ब्रह्मा का आदि-कारण मैं हूँ। ॥१२९॥

नामादिविरहितोऽहं नरक-स्वर्गा-पवर्गरहितोऽहम् ।
नादान्तवेदितोऽहं नानाविधि-निखिल-निगमसारोऽहम् ॥१३०॥

अर्थ--नामादि से रहित हूँ। मैं नरक, स्वर्ग, मोक्ष से रहित हूँ। मैं नाद के अन्त में जाना जाता हूँ। मैं नाना प्रकार के समस्त उपनिषदों के ज्ञान का सार हूँ।

व्याख्या--नामादि-विरहितः अहम्--मैं नाम, आदिपद से रूप रहित हूँ, क्योंकि मैं आत्मा निर्गुण निरुपाधिक मन वाणी का अविषय हूँ। **नरक-स्वर्ग-अपवर्गरहितः अहम्**--पापिष्टों के लिये जो नरक, पुण्यवानों के लिये जो स्वर्ग तथा ज्ञानियों के लिये जो मोक्ष, आत्मलोक है, मैं उनसे रहित हूँ, क्योंकि मैं पाप, पुण्यों से असंस्पृष्ट हूँ, तथा मैं बन्धमोक्ष से रहित हूँ क्योंकि बन्धमोक्ष भी अन्तःकरण के धर्म हैं **नाद-अन्तर्वेदितः अहम्**--ओंकार ध्वनि के अन्त में जो अनुच्चार्य शान्त स्वर शब्द है, उससे मैं बोधित होता हूँ, अर्थात् मैं अर्धमात्रा हूँ, **नानाविध-निखिल-निगमसारः अहम्**--नाना प्रकार के जो समस्त वेदान्त शास्त्र हैं, उन सब का तात्पर्य जो अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन है, वह मैं हूँ ।।१३०।।

पर-जीवभेद-बाधक-परमार्थज्ञान-शुद्धचित्तोऽहम् ।
प्रकृतिरहं विकृतिरहं परिणतिरहमस्मि भागधेयानाम् ॥१३१॥

अर्थ--मैं परमात्मा और जीवात्मा के भेद को नाश करने वाले ब्रह्मज्ञान से शुद्ध चित्त वाला हूँ। प्रकृति मैं हूँ। विकार मैं हूँ। भाग्यवान पुरुषों के लिये परिणाम हूँ।

व्याख्या--परजीवभेद-बाधक-परमार्थज्ञान-शुद्धचित्तःअहम्--ईश्वर और जीव का भ्रांति से जो भेद दिखाई पड़ता है, उसका नाशक परमार्थ ज्ञान अर्थात् महावाक्य का ज्ञान, ब्रह्मज्ञान, उस ब्रह्मज्ञान से जिसके चित्त की कलुषता अर्थात् तमोगुण रजोगुण नष्ट हो गये हैं, जिससे कि वह सत्त्वगुण प्रधान शुद्धचित्त है, वह मैं हूँ। **प्रकृतिः अहम्**--माया की साम्यवस्था प्रकृति मैं हूँ। **विकृतिः अहम्**--प्रकृति के

विकार, अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी मैं हूँ, **परिणतिः अहम् भागधेयानाम्**––मैं ही भाग्यवान पुरुषों की परिणति हूँ अर्थात् निर्धनता से धनाढ्यता में परिवर्तन हूँ ।।१३१।।

फणधर-भूधर-वारणविग्रह-विधृत-प्रपंचसारोऽहम् ।
फालतलोदित-लोचन-पावक-परिभूतपञ्चबाणोऽहम् ॥१३२॥

अर्थ––नाग, पर्वत, हाथी रूप को धारण करने वाला दृश्य जगत् का अधिष्ठान मैं हूँ । मैं भगवान शिव के मस्तक के अधोभाग में स्थित तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म होने वाला कामदेव हूँ ।

व्याख्या––**फणधर-भूधर-वारणविग्रह-विधृत प्रपंचसारः अहम्**––भगवान शेषनाग, मेरुपर्वत, ऐरावत हाथी––ये सब विग्रह, रूप धारण करने वाला मैं दृश्य जगत् का सार अर्थात् अधिष्ठान हूँ । घोर फणधारी नाग तथा भीमकाय हाथी सब मुझ में ही आरोपित हैं, **फालतल-उदित-लोचन पावक-परिभूत-पंचबाणः अहम्**––भगवान शंकर के मस्तक के अधः भाग में स्थित तृतीय नेत्र से उठी अग्निशिखा, उससे दग्ध कामदेव मैं हूँ ।।१३२।।

बद्धो भवामि नाहं बंधनान्मुक्तस्तथापि नैवाहम् ।
बोध्यो भवामि नाहं बोधोऽहं नैव बोधको नाहम् ॥१३३॥

अर्थ––मैं बद्ध नहीं हूँ । तथा बन्धन से मुक्त भी मैं नहीं हूँ । न मैं बोध के योग्य हूँ । न ही मैं ज्ञान हूँ । मैं ज्ञान कराने वाला भी नहीं हूँ ।

व्याख्या––**बद्धः भवामि न अहम्**––मैं देहादि उपाधियों से बंधा हुआ नहीं हूँ, **बन्धात् मुक्तः तथा अपि न अहम्**––और जैसे मैं बद्ध नहीं हूँ, वैसे ही मैं देहादि वन्धनों से मुक्त भी नहीं हूँ, क्योंकि बंध

और मोक्ष अन्तःकरण के धर्म हैं, मुझ आत्मा के नहीं **बोध्य भवामि न अहम्**––मैं मन बुद्धि से जानने योग्य भी नहीं हूँ, **बोधः अहम् न एव**–– मैं ज्ञान भी नहीं हूँ क्योंकि अज्ञान की भांति ज्ञान भी अन्तःकरण की एक वृत्तिमात्र है, **बोधकः न अहम्**––मैं ज्ञान कराने वाला भी नहीं हूँ। तात्पर्य यह है कि मैं किसी प्रकार के प्रत्ययों का विषय नहीं हूँ ।।१३३।।

भक्तिरहं भजनमहं भुक्तिरहं भुक्तिमुक्तिरहमेव ।
भूतानुशासनोऽहं भूत-भवद्-भव्यमूलभूतोऽहम् ॥१३४॥

अर्थ––मैं भक्ति हूँ। मैं भजन हूँ। मैं भोग हूँ। भुक्ति-मुक्ति भी मैं ही हूँ। मैं प्राणियों का शासक हूँ। मैं भूत-काल, वर्तमानकाल तथा भविष्यत काल का अधिष्ठान हूँ।

व्याख्या––भक्तिः अहम्––स्वरूपानुसन्धान रूपा भक्ति मैं हूँ, अर्थात् आत्मा में परम प्रेमरूपा भक्ति मैं हूँ। **भजनम् अहम्**–– आत्मचिन्तनरूप निदिध्यासन मैं हूँ, सत्त्वगुणवृद्धि करने वाले स्तोत्र पाठ जप मैं हूँ, **भुक्तिः अहम्**––विषय भोग मैं हूँ, **भुक्ति-मुक्तिः अहम् एव**––भोग के उपरान्त मोक्षरूप अन्तिम पुरुषार्थ मैं हूँ, **भूत-अनुशासनः अहम्**––सब प्राणियों का अनुशासक, नियंत्रण करने वाला मैं हूँ, **भूत-भवत्-भव्यमूलभूतः अहम्**––भूतकाल वर्तमानकाल तथा भविष्यत काल का मूलभूत अर्थात् अधिष्ठान मैं हूँ, सब सृष्टि मुझ आत्मारूपी पट पर ही कल्पित हैं ।।१३४।।

मान्योऽहमस्मि महतां मन्दमतीनाममाननीयोऽहम् ।
मद-राग-मान-मोहितमानस-दुर्वासना-दुरापोऽहम् ॥१३५॥

अर्थ––महान पुरुषों से मैं मान्य हूँ। मन्दमति वालों से अमान्य

मैं हूँ। घमण्ड, आसक्ति, मान से मूढ़चित्त दुर्वासनायुक्त पुरुष से मैं अप्राप्य हूँ।

व्याख्या-- **मान्यः अहम् अस्मि महताम्**--जो महान हैं अर्थात् साधनसम्पन्न हैं, बोधवान पुरुष हैं उनसे मैं मान्य हूँ, अर्थात् मुझ आत्मा की अद्वितीय सत्ता में उनकी अप्रकम्प्य निष्ठा है, परन्तु जो **मन्दमतीनाम् अमाननीयः अहम्**--जो मलिन, स्पूल, विक्षेपयुक्तबुद्धि वाले हैं, उनको मैं माननीय नहीं, अर्थात् उनकी निष्ठा मुझ परमात्मा में नहीं, वे जनधनवल आदि में आस्था रखते हैं। **मद-राग-मान-मोहित-मानस-दुर्वासना-दुरापः अहम्**--जन-धन-वल से मनोगर्व, मद, विषयों में आसक्ति, अपने को पूज्य मानना, भ्रान्तचित्त तथा दुर्वासना से युक्त जो पुरुष हैं, उनके लिये मैं अप्राप्य हूँ ॥१३५॥

यजन-यजमान-याजक-यागमयोऽहं यमादिरहितोऽहम्।
यम-वरुण-यक्ष-वासव-राक्षस-मरुदीश-वह्निरूपोऽहम् ॥१३६॥

अर्थ--मैं यज्ञ, यजमान, यज्ञ कराने वाला, यज्ञक्रिया हूँ। मैं यमादि से रहित हूँ। यमराज, वरुण, यक्ष, इन्द्र, राक्षस, पवन, ईश्वर, अग्निरूप मैं हूँ।

व्याख्या--यज-यजमान-याजक-यागमयः अहम्--यज्ञ, यज्ञ कराने वाला, पुरोहित, यज्ञ क्रिया मैं ही हैं, **यमादि रहितः अहम्**--पंच यमों से मैं रहित हूँ। आदिपद से नियम समझना। 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमाः' ।२।३०।, पातंजलयोगदर्शन। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा असंग्रह-ये पाँच यम हैं। **यम - वरुण - यक्ष - वासव - राक्षस - मरुत - ईश - वन्हिरूपः अहम्**--धर्मराज, जल देवता वरुण, यक्षराज कुवेर, देवराज इन्द्र, राक्षसराज रावण, वायु देवता, भगवान शंकर, अग्नि देवता--इन देवों के विग्रह में मैं ही हूँ ॥१३६॥

**रक्षाविधान-शिक्षा-वीक्षित लीलावलोक-महिमाऽहम् ।
रजनीदिवस-विराम-स्फुरदनुभूति-प्रमाणसिद्धोऽहम् ॥१३७॥**

अर्थ——साधनारक्षा के लिये जो शिक्षा (दीक्षा) दी जाती है, उसके प्रभाव से व्यक्त होने वाले लीला के अवलोकन का होना जिसकी महिमा है, वही मैं हूँ। रात्रि और दिवस की संधि में स्फुरण होने वाले अनुभवप्रमाण से सिद्ध मैं हूँ।

व्याख्या——रक्षाविधान–शिक्षा–वीक्षित-लीला-अवलोक-महिमा अहम्——साधना की रक्षा का विधान करने के लिये जो शिक्षा अर्थात् दीक्षा दी जाती है, उससे अनुभव में आने वाली जो इष्टदेव की अथवा मंत्र जागृति की लीला, विलास का अवलोकन, इस प्रकार जिसकी महिमा, गुणगरिमा है वह मैं हूँ। गुरु लोग शिष्यों को मंत्रादि की दीक्षा देते हैं। साथ ही यह भी वताते हैं कि इस साधना की रक्षा के लिये दिग्बंधन करना चाहिये, अमुक नियम पालन करने चाहियें, जिससे कि साधना प्रगतिशील फलदायिनी हो सके। गुरूपदिष्ट मार्गानुगमन से भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। कभी-कभी साधक को भय भी उपस्थित होता है। उन लीलाओं का साधक तटस्थ होकर अवलोकन करे। यह दीक्षा मन्त्रादि मैं ही हूँ। मन्त्रों से उत्थित जो शक्तियों की लीला है, वह मेरी ही महिमा है।

रजनी-दिवस-विराम——रात्रि और दिन की सन्धि अर्थात् प्रातः-काल और सायंकाल, अथवा रजनी-इडा, चन्द्रनाड़ी, दिवस——पिङ्गला, सूर्य नाड़ी। इड़ापिङ्गला का विराम अर्थात् सुषुम्ना, अग्नि नाड़ी, अथवा रजनी-तमोगुण, दिवस-रजोगुण। तमोगुण रजोगुण का विराम-सत्त्वगुण **स्फुरत्-अनुभूति प्रमाणसिद्धः अहम्**——रजनी दिवस के विराम में की हुई साधना से उदय हुई अनुभूति के प्रमाण से सिद्ध मैं हूँ। प्रत्यक्षानुमान प्रमाण मुझे सिद्ध नहीं कर सकते। मैं अनुभव प्रणाम गम्य हूँ। तात्पर्य यह है कि ब्रह्ममुहूर्त तथा सायंकाल में की हुई साधना अचिरकाल में सिद्ध हो जाती है। स्वरशास्त्रियों

की दृष्टि में सुषुम्ना का उत्थान ही संधि वेला है, अतः सुषुम्ना स्वर के समय साधना सफल होती है। प्रकृति के गुणों के आचार्यों की दृष्टि में सत्त्वगुण के पहरे में साधना सफल होती है। प्रयोजन यह कि जव भी एकाग्रता सिद्ध होगी तव ही सिद्धि मिलेगी ॥१३७॥

लक्षण-लक्ष्यमयोऽहं लाक्षणिकोऽहं लयादिरहितोऽहम् ।
लाभालाभमयोऽहं लब्धव्यानामलभ्यमानोऽहम् ॥१३८॥

अर्थ—लक्षण और लक्ष्य मैं हूँ, लक्षण का जाननेवाला मैं हूँ। विनाशादि से रहित मैं हूँ। लाभ और हानि से युक्त मैं हूँ। जो वस्तुओं उपलब्ध हो सकती हूँ, उन में मैं अलभ्य तत्त्व हूँ।

व्याख्या—लक्षण-लक्ष्यमयः अहम्—ब्रह्म के स्वरूप की पहचान मैं हूँ तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य जिस ब्रह्म की ओर लक्ष्य करता है, वह ब्रह्मलक्षक महावाक्य मैं ही हूँ **लाक्षणिकः अहम्**—शुभ-अशुभ-सूचक लक्षणज्ञ मैं हूँ, वाचक और व्यंजक शव्द से भिन्न लाक्षणिक मैं हूँ। **लयादिरहितः अहम्**—नाश आदि पद से सृष्टि और स्थिति-इन से रहित मैं हूँ। मैं अव्यय, अक्षर, अविनाशी हूँ, आद्यन्तरहित हूँ। **लाभ-अलाभमयः अहम्**—मैं लाभ-प्राप्ति और अलाभ-हानि से पूर्ण हूँ। स्वरूपोलब्धि तथा द्वैतहानि युक्त हूँ **लब्धव्यानाम् अलभ्यमानः अहम्**—जो लभ्य वस्तुएँ हैं धन, दारा, पुत्रादि उनमें मैं अलभ्य हूँ। मैं अहंकारत्याग से लभ्यमान हूँ, प्रयोजन यह हैं कि जिन साधनों से धनदारादि का लाभ होता है, उन साधनों से मैं अप्राप्य हूँ ॥१३८॥

वर्णाश्रमरहितोहं वर्णमयोऽहं वरेण्यगण्योऽहम् ।
वाचामगोचरोऽहं वचसामर्थेन गम्यमानोऽहम् ॥१३९॥

अर्थ—मैं वर्ण-आश्रम रहित हूँ। मैं वर्णयुक्त हूँ। मैं अत्यन्त

स्तुत्य गणनीय हूँ। मैं वाणी से अप्राप्य हूँ। मैं महावाक्य के सामर्थ्य से लभ्य हूँ।

व्याख्या--वर्णाश्रम-रहितः अहम्--मैं वर्णाश्रमधर्म से रहित हूँ, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म शरीर के होते हैं, मुझ आत्मा के नहीं है। मैं सर्वोपाधि विनिर्मुक्त आत्मा किस प्रकार वर्णाश्रमी हो सकता हूँ। **वर्णमयः अहम्**--मैं अकारादि अक्षरों से युक्त हूँ, अथवा श्वेतपीतादि वर्णों वाला मैं हूँ अथवा ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्ण मैं हूँ, अथवा ओंकार नामक अक्षर मेरा प्रतीक है। **वरेण्यगण्यः अहम्**--मैं अति आदरणीय, स्तुतियोग्य, गणनीय वस्तुओं में अग्रिणी हूँ। **वाचाम् अगोचरः अहम्**--मैं वाणी का विषय नहीं हूँ। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति तैत्तिरीयोपनिषद २।४। जिसे विना प्राप्त किये ही मन और वाणी लौट आते हैं। **वचसामर्थ्येन गम्यमानः अहम्**--तत्तवमसि' महावाक्य के सामर्थ्य से मैं प्राप्य, गम्य हूँ। 'तत्त्वमसि महावाक्य सिद्ध होते ही मैं प्रकाशित हो जाता हूँ ॥१३६॥

शमदमविरहितमनसां शास्त्रशतैरप्यगम्यमानोऽहम् ।
शरणमहमेव विदुषां शकलीकृत-विविधसंशयगणोऽहम् ॥१४०॥

अर्थ--सैंकड़ों शास्त्रों से भी परन्तु शमदम रहित पुरुषों को मैं अगभ्य हूँ। साधनसम्पन्न विद्वानों की शरण मैं ही हूँ। मैं ही नाना प्रकार के संशय समूह का खंडन करने वाला हूँ।

व्याख्या--शमदम-विरहितमनसाम् शास्त्रशतैः अपि अगम्यमानः अहम्--जिन के मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं, अर्थात् अजितेन्द्रिय पुरुष, उनके लिये मैं अगम्य, अप्राप्य, अदर्शनीय हूँ चाहे वे सैंकड़ों शास्त्रों के जानने वाले क्यों न हों; ज्ञान के साधनरहित पुरुष को शास्त्र फलित नहीं होते। **विदुषाम् शरणम् अहम् एव**--परन्तु जो शास्त्रज्ञ विद्वान हैं और साथ शमदमादि गुणों से भी अलंकृत हैं, उनके

लिये मैं शरण हूँ, मुख्याश्रय हूँ, उनको मैं गम्य हूँ। **शकलीकृत-विविध-संशयगणः अहम्**––नाना प्रकार के संशयसमूहों को खण्डन करने वाला मैं हूँ। मैं अपनी कृपा से साधकों के संशय, असंभावना, विपरीतभावना नाश करता हूँ। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।' गीता १०।११ में उनपर (मुमुक्षुओं पर) कृपा करके अज्ञान से उत्पन्न अंधकार का नाश करता हूँ, किस प्रकार? उनके अन्तःकरण में बैठ कर ज्ञान-दीपक जला कर ॥१४०॥

षड्कोशविरहितोऽहं षड्गुणरहितो ऽहमहितरहितोऽहम्।
षट्कोशविरहितोऽहं षट्त्रिंशत्तत्त्वजाल–रहितोऽहम् ॥१४१॥

अर्थ––मैं षट्भाव रहित हूँ। मैं छः गुणों से रहित हूँ, मैं अमंगलभावना से रहित हूँ। मैं छः कोशों से रहित हूँ। मैं छत्तीस तत्त्वों के जाल से रहित हूँ।

व्याख्या––षड्भाव-विकार-रहितः अहम्––उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणति, क्षय, तथा नाश––प्रकृति के ये छः भाव-विकार कहलाते हैं, मैं इनके प्रभाव से रहित हूँ **षड्गुणरहितः अहम्**––मैं छः गुणों से रहित हूँ। जरा, मरण, शोक, मोह, भूख-प्यास––ये छः गुण हैं अशनापिपासा प्राण के, शोकमोह मन के तथा जरामरण शरीर के गुण हैं। अथवा सर्वज्ञता, नित्यतृप्तिता, बोधरूपता, स्वतंत्रता, नित्य-अलुप्तता तथा अनन्तरूपता––ये छः ईश्वर के गुण हैं। **अहित रहितः अहम्**––मैं सर्व का आत्मा होने से अमांगलिक भावों से रहित हूँ। 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' इति गीता ५।२९ में सब प्राणियों का सुहृद हूँ। विना प्रत्युपकार की आशा लिये उपकार करने वाला सुहृद होता है। **षट्कोश विरहितः अहम्**––मैं छः कोशों से शून्य हूँ, 'षटकोशानथ वच्मि ते। त्वक् च रक्तं मांसमेदो मज्जास्थीति निबोधत।' वराहोपनिषद् ।१०। त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि––शरीर निर्माण

करनेवाले ये छः कोश हैं। **षट्त्रिंशत्-तत्त्वजालरहितः अहम्**––मैं छत्तीस तत्त्वों से रहित हूँ। छत्तीस तत्त्व इस प्रकार हैं। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल (१०) नियति, पुरूष, प्रकृति, अहंकार, बुद्धि, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, (२०) घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस (३०) गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी। (३६) ॥१४१॥

संवित्सुखात्मकोऽहं समाधि-संकल्प-कल्पवृक्षोऽहम्।
संसारविरहितोऽहं साक्षात्कारोऽहमात्मविद्यायाः ॥१४२॥

अर्थ––मैं ज्ञान और सुखस्वरूप हूँ। समाहित चित्त से किये हुए शुभ संकल्प के लिये मैं कल्पवृक्ष हूँ। मैं संसारधर्मों से रहित हूँ। ब्रह्मविद्या का फल आत्मसाक्षात्कार मैं हूँ।

व्याख्या––संवित्-सुखात्मकः अहम्––मैं ज्ञान और आनन्दस्वरूप वाला हूँ **समाधि-संकल्प-कल्पवृक्षो अहम्**––समाहित चित्त होकर जो सत्त्वगुणी संकल्प किया जाता है उसको पूरा करने में मैं कल्पवृक्ष हूँ, अर्थात् सत्त्वसंकल्प को मैं तत्काल पूर्ण करता हूँ **संसार विरहितः अहम्**–– मैं संसार के उदय अस्तादि धर्मों से शून्य हूँ **आत्मविद्यायाः साक्षात्कारः अहम्**––ब्रह्मविद्या का चरमफल जो आत्मदर्शन है, वह मैं हूँ, १४२॥

हव्यमहं कव्यमहं हेयोपादेयभावशून्योऽहम्।
हरिरहमस्मि हरोऽहं विधिरहमेवास्मि कारणं तेषाम् ॥१४३॥

अर्थ––मैं हव्य हूँ, मैं कव्य हूँ, त्याग और ग्रहण के भाव से रहित हूँ। मैं विष्णु हूँ, मैं शिव हूँ, मैं ब्रह्मा भी हूँ, और मैं ही ब्रह्माविष्णु-महेश का कारण हूँ।

व्याख्या--हव्यम् अहम्--देवतृप्तिकरा स्वाहा मैं हूँ **कव्यम् अहम्**--पितृगण तृप्तिकरा स्वधा मैं हूँ **हेय-उपादेयभाव-शून्यः अहम्**--कामक्रोधादि त्यागने योग्य हैं, दयातोषादि ग्रहण करने योग्य हैं, इन भावनाओं से मैं शून्य हूँ, क्योंकि मुझ से भिन्न कुछ नहीं है, अत: मैं क्या त्यागूं, क्या ग्रहण करूँ। **हरिः अहम् अस्मि**--सृष्टि की स्थिति और रक्षा करने वाला भगवान् विष्णु मैं हूँ **हरः अहम्**--मैं ही सृष्टिसंहारक त्रिशूलधारी शंकर हूँ **विधिः अहम् एव अस्मि**--और सृष्टि रचयिता ब्रह्मा जी भी मैं ही हूँ **कारणम् तेषाम्**--तथा उनका कारण-उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण भी मैं ही हूं। मैं ही मायोपाधि धारण करके ब्रह्मा विष्णु महेश बनता हूँ ॥१४३॥

क्षालित-कलुषभयोऽहं क्षपित-भवक्लेशजालहृदयोऽहम् ।
क्षान्ताद्यक्षरसुघटित-विविधव्यवहार-मूलमहमेव ॥१४४॥

अर्थ--मैं ने पापभय धो डाला है, मैं ने हृदय के भीतर से सांसारिक क्लेशजाल दूर कर दिया है। 'अ' अक्षर से लेकर 'क्ष' अक्षर के अन्त तक रचे हुए नाना प्रकार के शब्दों से कथित व्यवहार का मूलाधार मैं ही हूँ।

व्याख्या--क्षालित-कलुषभयः अहम्--मैं ने पापभय को धो डाला है अर्थात् मुझे पाप पुण्य लिपायमान नहीं करते। कलुष कहने से पुण्य भी लेना चाहिए। 'न पुण्यपापे' कैवल्योपनिषद ।२२। मुझ आत्मा को पुण्य पाप स्पर्श नहीं करते। **क्षपित-भवक्लेशजाल-हृदयः अहम्**--मैं ने अपने अन्त:करण से संसार के पंचक्लेश समूह दूर कर दिये हैं **'क्ष' अन्त-आदि-अक्षर-सुघटित-विविधव्यवहार मूलः अहम् एव**-- 'अ'' अक्षर से आदि लेकर 'क्ष' अक्षर के अन्त तक अकारादि क्षकारान्ता शब्द मालिका से सुन्दरता से रचे हुए नाना प्रकार के शब्दों से औरव्यवहारों के आधारभूत जो शब्दजाल, नामात्मिका जगत् है, वह मैं ही हूँ। 'अ' और 'क्ष' के बीच में समस्त नाम आ जाते हैं, और नाम में रूप भी निहित हैं। रूप नष्ट होने पर भी नाम रहता है अतः सम्पूर्ण नामरूपात्मक दृश्य प्रपंच मैं ही हूँ ॥१४४॥

बहुभिः किमेभिरुक्तै रहमेवेदं चराचरं विश्वम्।
शीकरफेनतरंगाः सिन्धोरपराणि न खलु वस्तूनि ॥१४५॥

अर्थ——इन (अकारादि क्षकारान्ता शब्दमालिका) शब्दों से अधिक कहने में क्या लाभ, मैं ही यह चराचर विश्व हूँ। जल की फुआर, झाग, लहरें निश्चय ही समुद्र से भिन्न वस्तु नहीं हैं।

व्याख्या——अब शिष्य अन्तर् विचारणा का उपसंहार करता है। **बहुभिः किम् एभिः उक्तैः**——इन बहु उक्तियों से अर्थात् 'अजरोऽहं' से आदि करके 'क्षपितभवक्लेश-जालहृदयोऽहम्' अन्त तक जो भीतर कहा है, अकारादि क्षकारान्त अक्षर मालिका से जो कथन किया है, उससे क्या ? अर्थात् मेरा विचारतारतम्य कहाँ तक जा सकता है अतः संक्षेप में कहता हूँ **अहम् एव इदम् चराचरम् विश्वम्**——मैं ही समस्त गतिवान और गतिरहित, जंगम जड़ विश्व हूँ। क्योंकि **शीकर-फेन-तरङ्गाः**——जलवीची यानी फुंआर, जल के झाग, तथा जल की लहरें जो समुद्र में होती है **सिन्धोः अपराणि**——सागर से भिन्न न **खलु वस्तूनि**——कोई वस्तु नहीं हैं। सागरजलोत्थित शीकर, फेन, तरंग जल ही हैं। ऐसे ही आत्मा में माया कल्पित नामरूप आत्मा ही हैं ।।१४५।।

सद्गुरु प्रसाद महिमा

शरणं न भवति जननी न पिता न सुता न सोदरा नान्ये।
परमं शरणमिदं स्याच्चरणं मम मूर्ध्नि देशिकन्यस्तम् ॥१४६॥

अर्थ——माता, पिता, पुत्री, भगिनी तथा अन्य जन शरण नहीं होते परन्तु सद्गुरु द्वारा मेरे मस्तक पर रक्खा हुआ यह चरणयुगल मेरा परम शरण है।

व्याख्या--विचार का अवसान होने पर, शिष्य श्रीगुरु का स्मरण करता है, और छः श्लोकों में श्रीगुरुप्रसाद महिमा गायन करता है। **शरणम् भवति**–जन्ममृत्युबंधसे छुटानेका कारण, आश्रय **न भवति जननी, न पिता, न सुता, न सोदरा, न अन्ये**--माता, पिता, पुत्री, भगिनी तथा अन्य पद से मित्रकलत्रधनगृहादि शरण नहीं हैं, क्योंकि वे स्वार्थवश, अपना संबंध मानते हैं। तो कौन शरण है? **परमम् शरणम्**--सर्वोपरि, अव्यर्थ, निर्भयशरण **देशिक–न्यस्तम् मम मूर्ध्नि चरणम् स्यात्**--श्री सद्गुरु द्वारा मेरे मस्तक पर रक्खा चरणयुगल प्रधान शरण है। तात्पर्य यह है कि श्री गुरुदेव ही मेरा मुख्य शरण, आश्रय है, उन्हों ने मुझे अधिकारी देख कर मेरे ऊपर अकारण कृपा करके मुझे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिससे मेरा अज्ञानमोह नष्ट हो गया और मैं अपने स्वरूप में अवस्थान कर गया। मातापिता ने मुझे जन्म दिया, पुनरागमन से नहीं छुड़ाया ॥१४६॥

आस्ते देशिकचरणं निरवधिरास्ते तदीक्षणे करुणा।
आस्ते किमपि तदुक्तं किमतः परमस्ति जन्मसाफल्यम् ॥१४७॥

अर्थ--यदि श्रीगुरु का चरण मस्तक पर रहता है, उनकी दृष्टिमें अपार करुणा रहती है, उनसे कहा हुआ कुछ स्मृति में रहता है, तो इससे अधिक जन्म में सफलता क्या होगी।

व्याख्या--**आस्ते देशिकचरणम्**--यदि श्रीगुरुदेव के चरणकमल सिर पर रहते हैं, अर्थात् उनके दर्शाये अद्वैतवेदान्त मार्ग में आस्था वनी रहे, **तत्-ईक्षणे निरवधिः करुणा आस्ते**--यदि श्रीगुरुदेव की दृष्टि में निःसीम करुणा वनी रहती है **आस्ते किम् अपि तत्-उक्तम्**--यदि उनके उपदेशामृत का मुख्यतात्पर्य स्मरण रहता रहे तो **किम् अतः परम् जन्मसाफल्यम् अस्ति**--वताओ इससे अधिक क्या जन्म-सफलता होगी? यदि मेरी श्रद्धा श्रीगुरुदेव में वनी रही, श्रीगुरुदेव की कृपादृष्टि मुझ पर वनी रहे, और मैं उनके उपदेशामृत पर आचरण

कर सकूं तो इससे बढ़ कर मेरा जन्मसफल क्या होगा, अर्थात् जन्म की यही परम सफलता है, क्योंकि ऐसा होने पर मोक्ष अवश्यम्भावी है ।।१४७।।

**कारुण्यसारसान्द्राः काङ्क्षित-वरदान-कल्पक-विशेषाः ।
श्रीगुरुचरणकटाक्षाः शिशिराः शमयन्ति चित्तसंतापम् ॥१४८॥**

अर्थ––गाढ़े करुणारस से स्निग्ध, इच्छित वरदानकी कल्पना करने में विशेष, श्रीगुरुचरणों के शीतल कटाक्ष चित्तसंताप को शान्त करते हैं ।

व्याख्या––श्रीगुरु की कटाक्षों की महिमा बताते हैं । कटाक्षो की चार विशेषता हैं, पहली **कारुण्यसार-सान्द्राः**––दया का सार, अर्थात् ऊँची श्रेणी की अकारण करुणा, कैसी करुणा ? गाढ़ी, निविड़, उससे स्निग्ध, दूसरी विशेषता **काङक्षित-वरदान-कल्पकविशेषाः**–– साधक के इच्छित कामना को पूरा करनेवाले, वरदान की कल्पना करनेवालों में विशेष शक्तिशाली कटाक्ष । गुरु लोग न केवल ब्रह्मज्ञान ही देते हैं, बल्कि साधकों के ज्ञानमार्ग में जो अवश्यंभावी भोगवासना प्रतिबंधक हैं, उनकी पूर्ति के लिये वरदान भी देते हैं, क्योंकि वासनाओं का गलाघोटने मात्र का नाम मोक्ष नहीं है, अपितु वासनाओं का विचार से शांत करना अथवा उनको भोग द्वारा ध्वंस करना जिसके फलस्वरूप साधक को पूर्णतृप्ति अनुभूत हो सके । यदि साधक की वासनाएँ अतृप्त रहेंगी तो समाधिप्रयास में वे बाधक होंगी । पुनः पुनः उठकर विक्षेप करेंगी और ध्यान नहीं जमने देंगी । अतः गुरुलोग वासनाओं की तृप्ति का भी वरदान देते हैं ।

एक ब्राह्मण अपनी माता और गौ के साथ गंगा तट पर निवास करके ज्ञानसाधना कर रहा था । भगवान शंकर और माता पार्वती ने छद्मवेश से उस ब्राह्मण का आतिथ्य ग्रहण किया और चलते हुए

बोले 'तेरी मैया और गैया मर जायें।' माता पार्वती ने इस विचित्र वरदान पर आश्चर्य किया। भगवान शंकर बोले 'इस ब्राह्मण की अपनी माता और गाय में आसक्ति है, जिससे इस की समाधि में विक्षेप होता है। मैंने प्रसन्न हो कर इस के प्रतिबंध हटाये हैं। अब यह ब्राह्मण समाधि में सफल होगा।'

चौथी विशेषता **शिशिराः**——शीतलकारी, वासनाओं के उपद्रवों के शमन से शान्त करनेवाले **श्रीगुरुचरण कटाक्षाः**——श्री गुरुदेव के कटाक्ष, हृदय अन्तर में प्रवेश करनेवाली शक्तिपूर्ण तीव्र चितवन **चित्तसंतापम् शमयन्ति**——चित्त के संताप, शुभ कर्म के न करने से, अशुभ कर्म के करने से चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है, इसे चित्तसंताप कहते हैं। श्रीगुरुकटाक्ष इस संताप का शमन करते हैं। किस प्रकार? शिष्य के स्वरूप का निरूपण करके। 'सर्वत्र शुद्धबुद्ध नित्यमुक्त एकतत्त्व परमात्मा व्याप्त है। सृष्टि उसमें कल्पित है, रज्जु में सर्प की भाँति। वही अचिन्त्यशक्ति आनन्दघन परमात्मा तू है। इस अध्यस्त मिथ्या प्रपंच को देख कर तू सन्तप्त न हो, तू सब प्रकार से, सर्व-अवस्था में, सर्वत्र आनन्दरूप है।' इस भांति के उपदेश से ॥१४८॥

कवलित-चञ्चलचेतो-गुरुतरमण्डूकजात-परितोषा।
शेते हृदयगुहायां चिरतरमेकैव चिन्मयी भुजगी ॥१४९॥

अर्थ——चञ्चलचित्तरूपी विशाल मेंढकों के समूह को निगलने से परितुष्ट चेतनमयी ब्रह्माकारवृत्तिरूपा सर्पिणी हृदयरूपी गुहा में बहुत काल तक अकेली ही शयन करती है।

व्याख्या——क्या चित्तसंताप शमित होकर पुनः उदय नहीं होता, इस शंका को दृष्टि में रख कर कहते हैं। यहाँ चित्त की वृत्तियों की उपमा बड़े मेंढकों (Frog) से दी है, और ब्रह्माकारवृत्ति की उपमा सर्पिणी से दी है। **कवलित-चञ्चल-चेतो गुरुतरमंडूक-जात**——

परितोषा––चञ्चल चित्त की भाववृत्तियों को, जो कि विशालकाय मेंढकों के सदृश हैं, निगलने से परितृप्त, सन्तुष्ट **चिन्मयी भुजगी**–– चेतन ब्रह्माकारवृत्तिरूपा सर्पिणी **चिरतरम्**––निश्चिन्त बहुतकाल से **एका-एव**–अकेली ही, द्वैतरहित **हृदयगुहायाम्**–– हृदयरूपी गुहा में, अन्तःकरण में **शेते**––सुख से शयन करती है। ब्रह्माकारवृत्ति सर्व भाववृत्तियों, घटपटादि वृत्तियों को ग्रसन कर जाती है, और साधक का स्वस्वरूप में अवस्थान कराती है, यानी निर्विकल्प समाधि लग जाती है। समाधि में ही निर्भेद एकतत्त्व ब्रह्म का अनुभव होता है। ब्रह्माकारवृत्ति एक बार चढ़ कर पुनः नहीं उतरती। साधक सिद्ध हो जाता है। आनन्द की बाढ़ से विभोर रहता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता ।।१४६।।

मयि सुखबोधपयोधौ महति ब्रह्माण्ड-बुद्बुदसहस्रम् ।
मायामयेन मरुता भूत्वा भूत्वा मुहुस्तिरोधत्ते ॥१५०॥

अर्थ––मुझे आनन्द और ज्ञानस्वरूप महासागर में बुलबुलों के सदृश सहस्रों ब्रह्मांड मायारूपी वायु से प्रेरित उदय होकर पुनः-पुनः नष्ट होते हैं।

व्याख्या––इस श्लोक में ब्रह्म की अचिन्त्य विशालता बताई है। **मयि सुखबोधपयोधौ महति**–मेरे आनन्दज्ञानरूप महासागर में **ब्रह्माण्ड-बुद्बुद-सहस्रम्**––बुलबुलों के सदृश सैकड़ों ब्रह्माण्ड **मायामयेन मरुता**– मायारूपी पवन के चलने से **भूत्वा भूत्वा**––उत्पन्न हो होकर **मुहुः तिरोधत्ते**––पुनः विलीन होते हैं, तो भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता, सृष्टि के उदय और अस्त से मेरे स्वरूप में कोई विकार नहीं आता। ब्रह्माण्डों की तुलना बुद्बुदों से करके स्वरूप का महान उदार चित्रण किया है ।।१५०।।

गुरुकरुणयैव नावा प्राक्तन-भाग्यानुकूल-मारुतया ।
दुःसहदुःखतरंगैस्तुंगः संसारसागरस्तीर्णः ॥१५१॥

अर्थ––गुरुकरुणारूपी नौका से ही, पूर्व शुभकर्मरूप अनुकूल वायु चलने से दुःसह दुःखरूप लहरों से दुस्तर संसार-सागर पार किया गया है।

व्याख्या––भवसागर पार करने के साधन बताते हैं **गुरुकरुणया एव नावा**––ब्रह्मनिष्ठगुरु की कृपारूपी नौका से ही, अन्यथा नहीं, **प्राक्तनभाग्य-अनुकूल-मारुतया**––पूर्वजन्म में जो शुभकर्म किये हैं उनके फलरूप अनुकूल वायु के चलने से, अर्थात् उपयुक्त-साधनसामग्री, शमदमादि साधन, सद्ग्रंथ, साधना के लिये पुण्यस्थान, योगक्षेम का समुचित प्रबन्ध, स्वस्थ शरीरादि के उपलब्ध होने से, अर्थात् शास्त्र-कृपा, ईश्वरकृपा तथा आत्मकृपा उपलब्ध होने पर––**दुःसहदुःख-तरङ्गैः** असहनीय दुःखरूपी लहरों से––**तुङ्गः संसारसागरःतीर्णः**––दुस्तर संसारसागर पार किया गया है ।।१५१।।

सति तमसि मोहरूपे विश्वमपश्यं तदेतदित्यखिलम् ।
उदितवति बोधभानौ किमपि न पश्यामि किं न्विदं चित्रम् ॥१५२॥

अर्थ––अज्ञानावस्था में उस इस समस्त विश्व को अंधकाररूप देखा था। (परन्तु) ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर उस संसार को कुछ भी नहीं देखता हूँ। क्या यह आश्चर्य नहीं है ?

व्याख्या––अज्ञान और ज्ञानावस्थाओं में संसारदर्शन का भेद वताते हैं। **सति तमसि मोहरूपे**––अंधकाररूप अज्ञान की अवस्था में **तद् एतत् अखिलम् विश्वम् अपश्यम् इति**––उस इस समस्त विश्व को, 'दुःसहदुःखतरङ्गैस्तुङ्गः संसारसागरः' देखा था जिसके कारण कि मैं संतप्त था, 'संसारदाव-पावकसंतप्तः ।' वही संसार अब ज्ञानावस्था में **उदितवति बोधभानौ**––ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर **किम् अपि न पश्यामि**––कुछ भी नहीं देखता हूँ, अर्थात् समाधिकाल में तो संसार का अत्यन्ताभाव हो गया था, और उत्थान

होने पर भी मैं उसे ब्रह्मरूप देखता हूँ अर्थात् उसका भयावह रूप नहीं देखता **किम् नु इदम् चित्रम्**––क्या यह आश्चर्य नहीं है कि चित्त को सन्तप्त करने वाला संसार अब शान्तस्वरूप हो गया है ? ।।१५२।।

अब अगले दो श्लोकों में आत्मबोध तथा स्वात्मनिरुपणम् ग्रंथ महिमा बताते हैं ।

इत्यात्मबोधलाभं मुहुरनुचिन्त्य प्रमोदमानेन ।
प्रारब्धकर्मणोऽन्ते परं पदं प्राप्यते हि कैवल्यम् ।१५३॥

अर्थ––इस प्रकार आत्मज्ञान के लाभ को वार-वार स्मरण करके प्रमुदितमन हुआ प्रारब्धकर्म के क्षय (देहपात) होने पर निश्चय ही परम कैवल्य पद को प्राप्त होता है ।

व्याख्या––इति आत्मबोधलाभम्––इस प्रकार अपने स्वरूप के ज्ञानरूप लाभ का **मुहुः अनुचिन्त्य**––वार वार चिन्तन करके, किस प्रकार ? जैसे कि श्लोक १०५ से १४४ तक किया है **प्रमोद-मानेन प्रारब्धकर्मणः अन्ते**––प्रमुदित मन हुआ, वर्तमान शरीर के आरम्भक कर्म को प्रारब्ध कहते हैं। प्रारब्ध कर्म के क्षीण होने पर अर्थात् देहपात होने पर **परम् कैवल्यम् पदम् हि प्राप्यते**––सर्वोत्कृष्ट कैवल्यपद, मोक्षपद प्राप्त किया जाता है, यह निश्चित है, संदेह नहीं करना चाहिये ।।१५३।।

मोहान्धकारहरणं संसारोद्वेल-सागरोत्तरणम् ।
स्वात्मनिरूपण-मेतत्प्रकरणमन्तर्विचिन्त्यतां सद्भिः ॥१५४॥

इति श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ 'स्वात्मनिरुपणं' सम्पूर्णम् ।

अर्थ––अज्ञान के अन्धकार को हरनेवाला, संसाररूपी उत्ताल-तरंगों से युक्त सागर को पार कराने वाला 'स्वात्मनिरुपण' नामक यह प्रकरण ग्रंथ मुमुक्षुओं द्वारा भीतर से विचार किया जाना चाहिये ।

व्याख्या--अब 'स्वात्मनिरूपण' नामक प्रस्तुत ग्रंथ की महिमा बताते हैं। **मोह-अन्धकारहरणम्**--यह ग्रंथ अज्ञानरूपी अंधकार का नाश करने वाला है, और कैसा है? **संसार-उद्वेल-सागर-उत्तरणम्**--संसाररूपी उत्तंगतरंगों वाले समुद्र को पार करने का साधन **एतत् स्वात्मनिरूपणम् प्रकरणम्**--यह 'स्वात्मनिरूपण' नामक प्रकरणग्रंथ, वेदान्तशास्त्र का अंशग्रंथ, एकदेशीय ग्रंथ। वेदान्त शास्त्र बहुत विस्तृत है। उसका अध्ययन करके, पचा कर जो क्रमबद्ध एकदेशीय स्वतंत्र ग्रंथ रचा जाता है, उसे प्रकरण ग्रंथ कहते हैं।

शास्त्रैकदेशसंबन्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथभेदं विपश्चितः॥

बुद्धिमान लोग मुख्यशास्त्र से एकदेशीय संबंधवाले दूसरे ग्रंथ को ग्रंथभेद से प्रकरण ग्रंथ कहते हैं। **सद्भिः अन्तर् विचिन्त्यताम्**--मोक्ष की कामनावाले सज्जन साधकों द्वारा भीतर ही भीतर अर्थात् मन से विचार किया जाना चाहिये॥१५४॥

--०--

इति श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य जगद्गुरु यतियतीन्द्र महामहामण्डलेश्वर महावेदान्तकेशरी श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त-श्रीविभूषित पूज्यपाद स्वामी ओंकाराश्रम जी महाराज दण्डी के शिष्य तथा हरियाणा निवासी ब्रह्मकुलभूषण पण्डितप्रवर हेमराज शर्मा के सुपुत्र मनोहरलाल शर्मा एम० ए० 'गुरुभक्तरत्न' द्वारा श्रीमच्छंकरभगवत्पादप्रणीत 'स्वात्मनिरूपणम्' नामक ग्रन्थ पर रचित 'स्वयंसिद्धा प्रदीपिका' नामक हिन्दी व्याख्या समाप्ता

---:※:---

श्रीगुरुचरणार्पणमस्तु

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!